bhasha

ओरियंट ब्लैकस्वॉन

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण

प्रस्तावना : भाषाका स्वत्व



PLSI
1
Part 1

गणेश देवी

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण

People's Linguistic Survey of India

PLSI Volume 1, Part 1

प्रस्तावना : भाषाका स्वत्व

भारतीय भाषा लोक-सर्वेक्षण भारत की वर्तमान और मृतप्राय: भाषाओं की, उनके वक्ताओं के समक्ष जो स्थिति है, उसका सिंहावलोकन है। यह अखिल भारतीय स्तर पर भाषाओं के भाषाविदों, लेखकों, समाजसेवियों और उल्लेखनीय रूप से विभिन्न वाग्समूहों के सदस्यों द्वारा किए गए सर्वेक्षण का परिणाम है। यह दस्तावेज इन भाषाओं के 2011 तक हुए क्रमागत विकास का इतिहास है जिसमें सामाजिक-राजनैतिक और सांस्कृतिक आयाम भी सम्मिलित हैं। मुख्य रूप से यह भाषाओं के वक्ताओं की वैश्विक दृष्टि का सार है।

सर्वेक्षण में राज्य व राष्ट्रीय खंड सम्मिलित हैं। राज्य खंडों में भारत के प्रत्येक राज्य में जो प्रधान भाषाएं हैं उनको प्रलेखित किया गया है। जबकि राष्ट्रीय खंड में भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं को साथ लाया गया है और साथ ही, प्रवासियों की भारतीय भाषाओं, भारत में विदेशी भाषाओं, भारतीय संकेत भाषाओं और भाषा जनगणना, सर्वेक्षण और नीति की ओर ध्यानाकर्षण कराया गया है।

यह यादगार भारतीय भाषा लोक-सर्वेक्षण विशेषकर घुमंतू, अल्पसंख्यक समुदायों और हाशिए के उपेक्षित लोगों की भाषाओं पर विशेषकर ध्यान दिलाता है और हमें विवश करता है कि उन्हें भूमंडलीकृत विश्व में समकालीन भाषा-विमर्श के केंद्र तक लाएं।

भारतीय भाषा लोक-सर्वेक्षण का यह पहला खंड 2010 में आरंभ हुई उस यात्रा को पाठकों तक पहुंचाता है जो गणेश देवी की अध्यक्षता में भविष्यद्रष्टाओं के एक समूह द्वारा तत्कालीन उपस्थित भाषाओं को दर्ज करने के लिए की गई। विश्व इस बात से अनजान है कि अनेक भारतीय भाषाएं धीरे-धीरे विलुप्त हो रही हैं। भारतीय भाषा लोक-सर्वेक्षण का लक्ष्य ही था कि वह भारत के दूर-दराज के इलाकों में भी हाशिए के, गरीब और नागरिकता तक से वंचित लोगों द्वारा बोली जा रही भाषाओं को लेखनीबद्ध करे जिनकी ओर कभी किसी का ध्यान गया ही नहीं। जो अब तक अप्रकाशित ही रहीं। भारतीय शहरों और कस्बों तक को इस सर्वेक्षण में सम्मिलित किया गया है। आशाओं और आकांक्षाओं से भरी यह एक लंबी यात्रा रही है। इस यात्रा से यह हुआ कि सभी स्तरों और वर्गों के लोगों का समर्थन इसे मिला जिसने भाषाका स्वत्व (*दी बीइंग ऑफ भाषा*) को आधार दिया और उसे मूर्त रूप प्रदान किया।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (PLSI)

प्रस्तावना : भाषाका स्वत्व

खंड 1, भाग 1

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण

प्रस्तावना : भाषाका स्वत्व

खण्ड 1, भाग 1

गणेश देवी

हिंदी अनुवाद
राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

bhasha

ओरियंट ब्लैकस्वॉन

सन् 2014 में ओरियंट ब्लैकस्वॉन द्वारा प्रकाशित अंग्रेज़ी मूल संस्करण *पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया : दी बीइंग ऑफ भाषा*, खंड 1, भाग 2 का हिंदी अनुवाद।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण : प्रस्तावना : भाषाका स्वत्व, खंड 1, भाग 1

ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड

मुख्य कार्यालय
3-6-752 हिमायत नगर, हैदराबाद 500 029, तेलंगाना, भारत
ई-मेल : centraloffice@orientblackswan.com

शाखाएँ
बंग्लुरू, भोपाल, चेन्नई, गुवाहाटी, हैदराबाद, जयपुर, कोलकाता, लखनऊ,
मुंबई, नई दिल्ली, नोएडा, पटना, विजयवाड़ा

ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड द्वारा सर्वप्रथम प्रकाशित 2017

ISBN 978-93-86689-09-2

पुस्तक सज्जा : ©ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड
आवरण सज्जा : बारान इज़लाल

लेज़रटाइपसेटर
क्विक डिजिटल प्रिंटिंग सर्विस, नई दिल्ली द्वारा (देवनागरी चाणक्य) 12/15 में टंकणांकित

मुद्रक
ग्लोरियस प्रिंटर्स, दिल्ली

प्रकाशक
ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड
3-6-752 हिमायत नगर, हैदराबाद 500 029, तेलंगाना, भारत
ई-मेल : info@orientblackswan.com

यह भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण, सर जमशेद जी टाटा ट्रस्ट, मुंबई द्वारा प्रदत्त आंशिक आर्थिक सहयोग से, 'भाषा रिसर्च एवं पब्लिकेशन सेंटर' बड़ौदा द्वारा संपन्न किया गया।

समर्पित है

उन समस्त भारतीयों को

जिन्होंने कहा कि तुम्हारी भाषा भी भाषा है जैसे हमारी;

जिन्होंने सीखा विविध भाषा-भाषी पड़ोसी संग शांति से जीना;

जिन्होंने दूरस्थ भाषा क्षेत्र में किया प्रवास, न तो निज भाषा तजी न दूसरी को किया खारिज;

जिन्होंने विद्वानों को याद दिलाया कि भाषा होती बारहमासी, और होतीं लिपियां मौसमी;

जिन्होंने स्वीकारा एक राष्ट्र की संभावना क्योंकि बहुभाषा में संभव है राष्ट्रप्रेम दर्शाना;

और जो किसी भाषा का हो अंतिम वक्ता, अपने शब्दों में पक्षियों और वृक्षों से कुछ बतियानेवाला, इससे पहले कि लोप होते शब्द उसे कर दें विक्षिप्त...

आभार

भाषाका स्वत्व; भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (पी.एल.एस.आई.) शीर्षक से विभिन्न खंडों में विपुल मात्रा में जो सामग्री प्रकाशित हुई है वह तीन हजार से ज्यादा व्यक्तियों, शताधिक संस्थाओं और गैर-सरकारी संगठनों, कुछेक सरकारी एजेंसियों तथा बड़ी संख्या में बुद्धिजीवियों के योगदान और भारी समर्थन से ही संभव हुआ है। जिन बुद्धिजीवियों ने अपना योगदान दिया उनका नामोल्लेख कुछ पृष्ठों में नहीं किया जा सकता। हमने भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण के प्रत्येक खंड में उन सभी व्यक्तियों और संस्थाओं का उल्लेख कर उनके प्रति आभार व्यक्त किया है जिन्होंने उस खंड में अपना योगदान दिया है। फिर भी मैं इस खंड में इन व्यक्तियों-संस्थाओं के प्रति आभार प्रकट करना चाहूँगा -

भारत के लोगों का - जिन्होंने लगातार बहुभाषी बने रहने का प्रयास किया। खासतौर से उन भाषाओं को बोलने वाले समुदायों का जिन्होंने हर सांस्कृतिक कठिनाई का मुकाबला किया और अपनी भाषाओं के अस्तित्व की रक्षा की और भारत को दुनिया का सबसे बड़ा भाषा वैविध्यपूर्ण देश बनाए रखने का प्रयास किया और अपनी भाषाओं को जीवंत एवं सक्रिय बनाए रखा जबकि दुनिया में हर जगह भाषाएँ कम हो रही हैं और खत्म हो रही हैं।

भारत सरकार का जिसने प्रतिभागियों को देशभर में देशज लोगों, अनुसूची विहीन और घुमंतू जातियों, पर्वतीय तथा समुद्रतटीय समुदायों के भाषिक सशक्तिकरण हेतु भाषा अभियान में जाने की छूट दी जिसके परिणामस्वरूप भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण सबके सामने आ सका। यहाँ यह बिल्कुल न समझा जाए कि सरकारी तंत्र के लिए भाषा की गणना तथा सर्वेक्षण करना एक बहुत बड़ी चुनौती नहीं थी। इस पूर्णत: लोकतांत्रिक भावना के अभाव में यह अभियान पूरा नहीं हो पाता। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का काम जब काफी हद तक पूरा हो गया तब तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री श्री कपिल सिब्बल ने मुझे आमंत्रित किया कि मैं उनके सामने आकर यह विस्तार से बताऊँ कि पी.एल.एस.आई. क्या है और यह कैसे बनी। सिब्बल जी, महापंजीयक - जनगणना, सी.आई.आई.एल. के निदेशक तथा मंत्रालय के भाषा प्रभाग के अधिकारियों ने सम्मानपूर्वक रुचि लेकर मेरी बातों को सुना। मेरी प्रस्तुति

के प्रत्युत्तर में मंत्रीजी ने गंभीरतापूर्वक यह पूछा कि मंत्रालय किस रूप में सहयोग दे सकता है। जिसके जवाब में मैंने संजीदगी से कहा, ''मेरा निवेदन है कि आप कोई सहयोग न दें।'' मैं आभारी हूँ कि मेरे निवेदन का सम्मान किया गया जिससे मैं पी.एल.एस.आई. का कार्य सफलतापूर्वक पूरा कर सका।

जिन साथियों ने स्वेच्छापूर्वक इस अभियान में अपना सहयोग दिया उनके प्रति आभार। जिनके द्वारा राष्ट्रीय संपादकीय समूह (एन.ई.सी.) गठित किया गया और जिन्होंने मुझे एन.ई.सी. के अध्यक्ष के रूप में स्वीकार कर नेतृत्व करने का अवसर दिया - उन सब लोगों की मानव सभ्यता की नि:स्वार्थ सेवा की भावना के लिए आभार क्योंकि भाषा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है मानव सभ्यता के निर्माण में, उनकी समुदायोन्मुख भाषा सर्वेक्षण की भावना के प्रति समर्पण तथा लेखन, संपादन के अथक प्रयास वाले कार्यों के लिए और इन खंडों को समय से प्रकाशित करने तथा अन्य संचार माध्यमों के द्वारा प्रचारित-प्रसारित करने के लिए तैयार करने हेतु आभार।

उन साथियों का जिन्होंने जीवनयापन के लिए आवश्यक ड्राइवरी, शिक्षक-वृत्ति, दुकानदारी, घर चलाने, विश्वविद्यालय में पढ़ाने जैसे कामों को परे रखकर देश के दूरस्थ क्षेत्रों में सांस्कृतिक अनुसंधान का कार्य हाथ में लिया, फिर चाहे हिंद महासागर से हिमालय के पहाड़ों या घाटियों तक जहाँ-जहाँ भी जाना पड़ा, गए और ठेठ आदिवासी क्षेत्रों से लेकर महानगरों तक भारतीय भाषाओं संबंधी गंभीर अनुसंधान में हिस्सा लिया, रपटें लिखीं, सभाओं में भाग लिया, वर्कशापों में भागीदारी की और विश्व के इस विशालतम सर्वेक्षण में योगदान किया। उनके विशुद्ध प्रेम-स्नेह के लिए आभार जिसे पीढ़ियों को थाती स्वरूप दिया जाएगा, जिसे बोला-गाया जाएगा एक भाषा के तौर पर।

अवधेश कुमार सिंह, निदेशक, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय का आभार। बड़ी संख्या में अनुवादकों को प्रेरित करने तथा कम समय में अनुवाद कार्य पूरा करने हेतु प्रोत्साहित करने के लिए तथा **उन विद्वानों का जिन्होंने** पाठ्य सामग्री का अनुवाद किया जो सामान्यत: आसानी से इस कार्य के लिए तैयार नहीं होते।

आदिवासी अकादमी के साथियों का आभार जिन्होंने आरंभिक स्तर पर इसे आगे बढ़ाना संभव बनाया तथा **भाषा शोध संस्थान** के साथियों का आभार जिन्होंने लगातार भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण की पूरी प्रक्रिया में कार्य पूरे होने तक सहयोग दिया तथा उनकी उस क्षमता के लिए कि वे इस परियोजना से जुड़े, अन्यथा यह कार्य तो उनके आसपास भौतिक कल्याण के मुद्दों से पूर्णत: अलग था। विशेषत: मैं कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूँ - उस वृहद् भाषा परिवार के प्रति जिसने भाषा संगम या 'दि लैंग्वेज कांफ्लूएंस एट पॉइंट जीरो' का आयोजन मार्च 2010 में 700 प्रतिभागियों के साथ तथा 'भाषा वसुधा' या 'ग्राउण्डेड लैंग्वेज कांफ्रेंस' का आयोजन जनवरी 2012 में किया जिसमें दुनिया भर से 900 से अधिक भाषाओं के वक्ता शामिल हुए तथा पी.एल.एस.आई. की अवधारणा निर्मित करने हेतु एक मंच प्रदान करने के लिए उनका आभार।

मार्गदर्शक, सलाहकार मित्रों का - सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ इंडियन लैंग्वेजेज के संस्थापक निदेशक पी.पी. पटनायक, सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ इंडियन लैंग्वेजेज के पूर्व निदेशक, ओंकार कौल, नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ एजूकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन के चांसलर तथा ललित कला अकादमी के अध्यक्ष, के.के. चक्रवर्ती का आभार - पी.एल.एस. आई. परियोजना को प्रोत्साहित करने तथा इसकी कार्य प्रक्रिया के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर इसमें भागीदार बनने के लिए।

जमशेद जी टाटा ट्रस्ट मुंबई तथा उनके अधिकारियों - ए.एन. सिंह तथा नियति मेहता का आभार। नवंबर 2011 से अक्टूबर 2013 की अवधि में 80,00,000 रूपए की सहायता राशि प्रदान करने के लिए जिससे पी.एल.एस.आई. के नौ खंडों का प्रकाशन हो सके। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण को आर्थिकेतर सहयोग और समर्थन - जिन व्यक्तियों

ने बैठकों के लिए भोजन की व्यवस्था की तथा कार्यक्रम स्थल उपलब्ध कराए और छोटी या बड़ी यात्राएँ कीं-यदि इन सबका पी.एल.एस.आई के कार्य के लिए खर्च का अनुमान लगाया जाए तो यह लगभग रु. 1,20,00,000 होगा। इस प्रकार भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का कुल खर्च दो करोड़ रुपए लगता है। यहाँ विनम्रता से यह उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि पी.एल.एस.आई. के कार्य से जुड़े रहे लगभग हर व्यक्ति ने सीमित खर्च में काम किया। मैंने अखबारों में और इंटरनेट पर जो रिपोर्ट पढ़ी हैं उनसे पता चला कि जब 2007 में 11वीं पंचवर्षीय योजना तैयार की गई थी तब भारत सरकार ने प्रस्तावित नूतन भारतीय भाषा सर्वेक्षण (एन.एल.एस.आई.) के लिए 280 करोड़ रुपए का बजट आर्वटित किया था तथा अनुमान लगाया गया था कि एन.एल.एस.आई. का कुल खर्च 600 करोड़ रुपए होगा। यह बात अलग है कि एन.एल.एस.आई. की योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी और शुरुआती काम के बाद ठप्प पड़ गई। यदि इन आंकड़ों से कुछ पता चलता है तो यह कि पी.एल.एस.आई. का कार्य सरकारी खर्च के आंकड़ों के एक प्रतिशत से कम में पूरा हो गया क्योंकि एक प्रतिशत भी 6 करोड़ होता और यहाँ सरकारी आंकड़े के एक प्रतिशत के एक-तिहाई से भी अर्थात् सिर्फ 0.3 प्रतिशत का मामूली खर्च हुआ। पी.एल.एस.आई. टीम ने खर्च में जो किफायत बरती उससे पता चलता है कि जब सरकारी सहायता के बिना लोग सांस्कृतिक चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए पूरे मन से तैयार होते हैं तब वे क्या कुछ नहीं कर सकते।

पी.एल.एस.आई. के प्रकाशकों का भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण के लिए तैयार पाठ्य सामग्रियों को प्रकाशित करने हेतु तैयार होने के लिए - असम केंद्रित खंड के असमी भाषा में प्रकाशन हेतु बनलता प्रकाशन गुवाहाटी, मेघालय खंड के खासी और गारो संस्करण हेतु री खासी बुक कम्पनी शिलांग, कर्नाटक खंड के कन्नड़ संस्करण हेतु हेग्गोडू के अक्षर प्रकाशन, महाराष्ट्र खंड के मराठी संस्करण के प्रकाशन हेतु पुणे के पद्‌मगंधा, आंध्रप्रदेश खंड का तेलुगु में प्रकाशन करने के लिए हैदराबाद के स्मेस्को तथा ओरियंट ब्लैकस्वॉन का सभी राज्यों तथा संघशासित क्षेत्रों के अंग्रेजी में प्रकाशित खंडों तथा हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड तथा राजस्थान के हिंदी खंडों और पश्चिम बंगाल के बांग्ला संस्करण और गुजरात के गुजराती भाषा में प्रकाशित खंड और सिक्किम संबंधी खंड के नेपाली भाषा में प्रकाशित खंड के प्रकाशन के लिए आभार। इसलिए कि भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण को प्रकाशित करने वाले किसी भी प्रकाशक का उद्देश्य व्यावसायिक लाभ कमाना नहीं रहा है। इन सभी लोगों ने इसे एक मिशन तथा सांस्कृतिक जिम्मेदारी के रूप में अपनाया। पी.एल.एस.आई. के मुख्य संपादक के रूप में मैं यह पूर्णत: अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ कि मैं इन सबके प्रति कितना ऋणी अनुभव कर रहा हूँ।

मैं व्यक्तिगत रूप से कुछ कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूँ। 1996 में मैंने निर्णय लिया कि बड़ौदा विश्वविद्यालय को छोड़कर मैं गुजरात में आदिवासियों की भाषाओं के संवर्धन में प्रत्यक्ष रूप से संलग्न होकर काम करूँ। विगत सत्रह वर्षों से अधिक समय में भाषा लोक सर्वेक्षण के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए और खासतौर से विगत चार वर्षों में, जब यह कार्य क्रियान्वित होने में अत्यधिक सक्रिय रहना पड़ा तब मेरे स्वास्थ्य के प्रति तत्परता से ध्यान देने के अभाव में सुरेखा के असीम प्रेम तथा देखभाल के बिना जो कार्य मैंने किया है उसका छोटा सा हिस्सा भी मैं पूरा नहीं कर पाता, यह मुझे अच्छी तरह पता है। वहीं विगत कई वर्षों से हमारी पुत्री रश्मि ने अपनी कोई चिंता हम लोगों के सामने नहीं रखी बल्कि उसने हम लोगों की चिंताएँ ही साझा कीं और अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव-सलाह से हमारी चिंताओं को दूर करने में काफी मदद की। मुझे नहीं मालूम कि इन दोनों को किस तरह से धन्यवाद दूँ। या फिर धन्यवाद दे भी सकता हूँ क्या?

भूमिका

मैंने अपने जीवन में कई जोखिम उठाए हैं जिनमें से कुछ शारीरिक रहे हैं और कुछ बौद्धिक। हर ऐसे मौके पर दिल में बेचैनी हुई है जैसी होनी चाहिए किंतु इसके पहले मैंने कभी इतनी बेचैनी महसूस नहीं की जितनी तेज अब हो रही है जब मैं भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का यह पहला खंड तथा सर्वेक्षण की रिपोर्ट के पचास खंडों की शृंखला पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने जा रहा हूँ।

जब मैं भारत की विशालता, उसकी विशद सामाजिक जटिलताओं और सांस्कृतिक और पारिस्थितिकीय संदर्भों में अद्‌भुत जटिलताओं को देखता हूँ और दूसरी ओर, अपनी बौद्धिक सीमाओं के बारे में सोचता हूँ तो मैं अपनी उस कल्पना के बारे में सोचकर सिहर जाता हूँ कि मैंने क्यों भारतीय भाषाओं के मानचित्रण का जोखिम भरा कार्य करने को सोचा। मैं साफ तौर पर यह जानता हूँ कि मुझे ऐसा प्रयास नहीं करना चाहिए था। मैंने देश के विभिन्न भागों में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक यात्राएँ कीं और दो दशकों तक का समय आदिवासी इलाकों के सुदूरतम गाँवों में रहने वालों के साथ-साथ बिताया। मैंने भारत के बहुत से शहरों की भी यात्रा की और उन समुदायों के विषाद को देखकर पीड़ा का भी अनुभव किया जिनकी बोलियाँ और सौंदर्य बोध, भाषा तथा संस्कृति तेजी से हो रहे आर्थिक परिवर्तन के कारण अस्तित्व के संकट का सामना कर रही हैं। हमारी आँखों के सामने जो नई दुनिया दिखाई दे रही है उसमें उन लोगों के प्रति बहुत कम संवेदना बची है। इन समुदायों की आखिरी उम्मीद उनके सांस्कृतिक क्षरण के निकट पहुँच चुकी है। इसने मुझे अपने लिए यह प्रतिज्ञा लेकर उसका प्रत्युत्तर देने के लिए बाध्य किया जिसके कारण यह सब हो सका जिसे स्पष्ट रूप से एक असंभव कार्य कहा जा सकता है।

तैत्तरीय उपनिषद् में कहा गया है कि वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के पास जाकर कहा, पिता श्री मुझे 'ब्रह्म' की शिक्षा दीजिए। उन्होंने उसे स्पष्ट करते हुए कहा, ''पदार्थ, जीवन, दृष्टि, श्रवण, मस्तिष्क, भाषण...।'' इसके बाद उन्होंने कहा ''जिस तत्त्व से ये चीजें निर्मित होती हैं और जिसके द्वारा तथा जब उनका जन्म होता है, जब वे रहती हैं तथा जिसमें यह विदा होकर जाती हैं वही 'ब्रह्म' है जिसे तुम जानना चाहते हो। मैं 'शब्द-ब्रह्म' के विषय में

सोचता हूँ, यही लोगों को उस रूप में बनाता है जिस रूप में वे हैं। मुझे इन शब्दों में निहित भाव का ज्ञान बोध इसके पहले तक उतना स्पष्ट रूप में कभी नहीं हुआ जितना कि तब जब मैं उन समुदायों के संपर्क में आया जो अपनी भाषाओं को बचाने के लिए, तेजी से अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत हैं। मेरे इस अर्थातिरेक को अन्यथा न लिया जाए तो भारत के हजारों लोगों के सामूहिक प्रयासों के परिणामस्वरूप, जो भारत का लोक भाषा सर्वेक्षण पूरा हो सका, जिस कार्य को अपने नेतृत्व में पूरा करने का मुझे अवसर मिला; वह भारत के लोगों का स्नेह और समर्थन प्राप्त कर सके, ऐसी मेरी कामना है।

- गणेश देवी
गुरु पूर्णिमा, जुलाई 2013

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली 1953/1990 *दि प्रिंसिपल उपनिषद्ज*, 549, उ.प्र.; दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ।

अनुवादकीय

भाषा और साहित्य अध्ययन-अध्यापन से विगत दो दशकों से अधिक समय से जुड़े होने के कारण विश्वभर में भाषाओं की वर्तमान स्थिति, अनेक भाषाओं के पतन, बड़ी संख्या में हो रहे भाषाओं के क्षरण के कारण भाषाओं के मृतप्राय एवं संकटग्रस्त होने की चिंता तथा भाषाओं के अस्तित्व की रक्षा तथा उनके संरक्षण के प्रयत्नों पर लगातार ध्यान जाता रहा है। भाषा संरक्षण के साथ समुदाय की अस्मिता एवं संस्कृति के संरक्षण की चिंता जुड़ी रहती है। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण भारत की भाषाओं का मानचित्रण ही नहीं एक लोक जागरण है – एक जनान्दोलन है। इस व्यापक भाषा एवं संस्कृति संरक्षण अभियान के साथ जुड़ने का मुझे अवसर मिला तो मुझे आत्मीय प्रसन्नता मिली। प्रो. गणेश देवी की रचनाओं को लगातार पढ़ता रहा हूँ। इस क्रम में उनके इस व्यापक अभियान से जुड़कर एक प्रकार से अपने सामाजिक दायित्व को एक स्तर पर पूरा कर पाने का सुख भी अनुभव कर रहा हूँ। मैं अत्यंत आभारी हूँ प्रो. देवी का कि उन्होंने मुझे मेरी इच्छा के अनुरूप; *The Being of Bhasha* के अनुवाद कार्य का दायित्व सौंपा।

The Being of Bhasha के अनुवाद की प्रक्रिया में अत्यंत सुखद एवं ज्ञानवर्धक अनुभव मिला। इस विशिष्ट ज्ञानात्मक एवं प्रदीर्घजीवी कृति को हिंदी पाठकों के समक्ष लगभग अविकल रूप में प्रस्तुत करना मेरा अभीष्ट रहा इसलिए अनुवादक की दृश्यता पर मैंने बल नहीं दिया। इस कृति में तथ्यात्मक विश्लेषण और विमर्श है इसलिए इसको हिंदी के मुहावरे और हिंदी के वाक्य-विन्यास में प्रस्तुत करना ही अनुवादक का लक्ष्य था। इस प्रक्रिया में अंग्रेजी वाक्य-विन्यास और अभिव्यक्ति कौशल के बजाय हिंदी की कथन-भंगिमा और पठनीयता को ध्यान में रखा गया है। प्रयास यह रहा है कि अनूदित पाठ दुरूह और दुर्बोध न हो।

अनुवाद की विभिन्न रणनीतियों का यथानुसार अनुपालन किया गया है किंतु किसी एक रणनीति पर पूरी प्रक्रिया केंद्रित नहीं रही। अनुवाद प्रक्रिया से गुजरने के बाद अनूदित पाठ को मूल लेखक प्रो. गणेश देवी ने देखा जिससे उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि हुई। मैं आभारी हूँ उनका कई महत्त्वपूर्ण सुझाव देने के लिए। उनका बल मुख्यत: जनभाषा में इस पाठ को पहुँचाना रहा है इसलिए शीर्षक सहित कई अन्य स्थानों पर उनके सुझाव स्वीकार कर लिए गए। यह सही है कि हिंदी के कथन वैशिष्ट्य के अनुरूप अधिकांश शब्दों, वाक्यांशों को मैंने अपनी पसंद से भी रखा।

अनुवाद-अध्ययन का अध्यापक तथा विद्यार्थी होने के बावजूद यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि अनुवाद दुर्गम प्रक्रिया है जिसमें कई लोग प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सहयोग करते हैं, अतः सभी अनुवाद संयुक्त उपक्रम होते हैं। इस पुस्तक के अनुवाद में मेरी पुत्री शिखा पाण्डेय ने खूब सहयोग किया और दबाव साझा किया। उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। मैं आभार व्यक्त करना चाहता हूँ आदरणीय प्रो. अवधेश कुमार सिंह का जिन्होंने मुझे इस वृहद् परियोजना से जोड़ा।

कोई भी अनुवाद अंतिम नहीं होता। इस अनुवाद को सहज, बोधगम्य तथा हिंदी पाठकों के लिए रोचक बनाने का पूरा प्रयास किया गया है किंतु इसकी गुणवत्ता का परीक्षण पाठक ही करेंगे। शमशेर बहादुर सिंह के शब्दों में -

> बात बोलेगी हम नहीं, भेद खोलेगी बात ही

आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से व्यापक हिंदी भाषी जनमानस 'भाषा' शोध संस्थान तथा भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण की वृहद परियोजना के सरोकारों तथा भाषा और संस्कृति के संरक्षण की चिंताओं को समझेगा तथा इस भगीरथ प्रयास को संबल प्रदान करेगा।

- राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
नवंबर 2016

राष्ट्रीय संपादक मंडल

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (ग्रंथमाला)

Volume 1

The Being of Bhasha: A General Introduction

Part One—Hindi

G. N. Devy

Part Two—English

G. N. Devy

Volume 2

The Languages of Andaman and Nicobar Islands

Part One—Hindi

Edited by M. Sreenathan

Part Two—English

Edited by M. Sreenathan

Volume 3

The Languages of Andhra Pradesh and Telangana

Part One—Hindi

Edited by A. Usha Devi

Part Two—English

Edited by A. Usha Devi

Part Three—Telugu

Edited by A. Usha Devi

Volume 4

The Languages of Arunachal Pradesh

Part One—Hindi

Lisa Lomdak

Part Two—English

Lisa Lomdak

Volume 5

The Languages of Assam

Part One—Hindi

Edited by Bibha Bharali and Banani Chakravarty

Part Two—English

Edited by Bibha Bharali and Banani Chakravarty

Part Three—Assamese

Edited by Bibha Bharali and Banani Chakravarty

Volume 6

The Languages of Bihar

Part One—Hindi

Edited by Vibha Chauhan

Part Two—English

Edited by Vibha Chauhan

Volume 7

The Languages of Chhattisgarh

Part One—Hindi

Edited by Chitta Ranjan Kar

Part Two—English

Edited by Chitta Ranjan Kar

Volume 8

The Languages of Goa

Part One—Hindi

Edited by Madhavi Sardesai

Part Two—English

Edited by Madhavi Sardesai

Volume 9

The Languages of Gujarat, Daman-Diu and Dadra-Nagar Haveli

Part One—Hindi

Edited by Kanji Patel

Part Two—English

Edited by Kanji Patel

Part Three—Gujarati

Edited by Kanji Patel

Volume 10

The Languages of Haryana

Part One—Hindi

Edited by Roop K. Bhat and Omkar N. Koul

Part Two—English

Edited by Roop K. Bhat and Omkar N. Koul

Volume 11

The Languages of Himachal Pradesh

Part One—Hindi

Edited by Tobdan

Part Two—English

Edited by Tobdan

Volume 12

The Languages of Jammu and Kashmir

Part One—Hindi

Edited by Omkar N. Koul

Part Two—English

Edited by Omkar N. Koul

Volume 13

The Languages of Jharkhand

Part One—Hindi

Edited by Ramnika Gupta and Prabhat Kumar Singh

Part Two—English

Edited by Ramnika Gupta and Prabhat Kumar Singh

Volume 14

The Languages of Karnataka

Part One—Hindi

Edited by Rajeshwari Maheshwaraiah & M.Maheshwaraiah

Part Two—English

Edited by Rajeshwari Maheshwaraiah & M.Maheshwaraiah

Part Three—Kannada

Edited by Rajeshwari Maheshwaraiah & M.Maheshwaraiah

Volume 15

The Languages of Kerala and Lakshadweep

Part One—Hindi

Edited by M. Sreenathan and Joseph Koyippally

Part Two—English

Edited by M. Sreenathan and Joseph Koyippally

Volume 16

The Languages of Madhya Pradesh

Part One—Hindi

Edited by Damodar Jain

Part Two—English

Edited by Prashant Mishra

Volume 17

The Languages of Maharashtra

Part One— Hindi

Edited by Arun Jakhade

Part Two—English

Edited by Arun Jakhade

Part Three—Marathi

Edited by Arun Jakhade

Volume 18

The Languages of Manipur

Part One— Hindi

Edited by Nipuni Mao

Part Two—English

Edited by Nipuni Mao

Volume 19

The Languages of Meghalaya

Part One— Hindi

Edited by Esther Syiem

Part Two—English

Edited by Esther Syiem

Part Three—Khasi and Garo

Edited by Esther Syiem

Volume 20

The Languages of Mizoram

Part One— Hindi

Edited by L. Thangi Chhangte

Part Two—English

Edited by L. Thangi Chhangte

Volume 21

The Languages of Nagaland

Part One— Hindi

Edited by Duovituo Kuolie

Part Two—English

Edited by Duovituo Kuolie

Volume 22

The Languages of Odisha

Part One—Hindi

Section One—Edited by D. P. Pattanayak

Section Two—Edited by Mahendra Kumar Mishra

Part Two—English

Section One—Edited by D. P. Pattanayak

Section Two—Edited by Mahendra Kumar Mishra

Part Three— Odiya

Section One—Edited by D. P. Pattanayak

Section Two—Edited by Mahendra Kumar Mishra

Volume 23

The Languages of Puducherry

Part One—Hindi

Edited by L Ramamoorthy and G. Ravishankar

Part Two—English

Edited by L Ramamoorthy and G. Ravishankar

Volume 24

The Languages of Punjab

Part One—Hindi

Edited by Omkar Koul and Roop K. Bhat

Part Two—English

Edited by Omkar Koul and Roop K. Bhat

Volume 25

The Languages of Rajasthan

Part One—Hindi

Edited by Madan Meena and Suraj Rao

Part Two—English

Edited by Madan Meena and Suraj Rao

Volume 26

The Languages of Sikkim

Part One— Hindi

Edited by Balaram Pandey

Part Two—English

Edited by Balaram Pandey

Part Three—Nepali

Edited by Balaram Pandey

Volume 27

The Languages of Tamil Nadu

Part One—Hindi

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

Part Two—English

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

PartThree—Tamil

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

Volume 28

The Languages of Tripura

Part One—Hindi

Edited by Sukhendu Debbarma

Part Two—English

Edited by Sukhendu Debbarma

Volume 29

The Languages of Uttar Pradesh

Part One—Hindi

Edited by Badri Narayan

Part Two—English

Edited by Badri Narayan

Volume 30

The Languages of Uttarakhand

Part One—Hindi

Edited by Uma Bhat and Shekhar Pathak

Part Two—English

Edited by Uma Bhat and Shekhar Pathak

Volume 31

The Languages of West Bangal

Part One—Hindi

Edited by Sankar Singha and Indranil Acharya

Part Two—English

Edited by Sankar Singha and Indranil Acharya

Part Three—Bangla

Edited by Sankar Singha and Indranil Acharya

Volume 32

The Scheduled Languages—Assamiya, Bangla, Bodo, Maithili, Manipuri, Oriya, Nepali, Santali

Edited by G. N. Devy & Nipuni Mao

Volume 33

The Scheduled Languages—Dogri, Kashmiri, Punjabi, Urdu

Edited by Omkar N. Koul

Volume 34

The Scheduled Languages—Gujarati, Konkani, Marathi, Sindhi

Edited by G. N. Devy

Volume 35

The Scheduled Languages—Kannada, Malayalam, Tamil and Telugu

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

Volume 36

The Scheduled Languages—Sanskrit and Hindi

Edited by Avadhesh K. Singh

Volume 37

English and other International Languages

Part One—European: English, French and Portuguese

Edited by T. Vijay Kumar

Part Two—Asian: Arabic, Karen, Nepali, Parsian, Syriac and Tibetan

Edited by Sukrita Paul Kumar

Volume 38

Indian Sign Language(s)

Part One—Hindi

Edited by Tanmoy Bhattacharya, Nisha Grover and Surinder P. K. Randhawa

Part Two—English

Edited by Tanmoy Bhattacharya, Nisha Grover and Surinder P. K. Randhawa

Volume 39

Shared Languages of the Indian Subcontinent

Edited by Sukrita Paul Kumar

Volume 40

The Tribal Language—The North-Eastern States

Edited by G. N. Devy

Volume 41

The Tribal Languages—The Eastern States—Bengal, Bihar, Jharkhand, Orissa

Edited by G. N. Devy

Volume 42

The Tribal Languages—Central Indian States—Chhattisgarh, Gujarat, Madhya Pradesh, Maharashtra, Rajasthan

Edited by G. N. Devy

Volume 43

The Tribal Languages—The Southern States and the Islands

Edited by G. N. Devy

Volume 44

The Tribal Languages of the North-West and the Himala-yan States

Edited by Omkar N. Koul

Volume 45

Language Census, Survey and Policy

Edited by B. Mallikarjun

Volume 46

Scripts in India

Edited by G. N. Devy

Volume 47

Indian Languages in Diaspora

Edited by T. Vijay Kumar

Volume 48

Comparative Wordlist—Kinship and Social Relations

Edited by G. N. Devy

Volume 49

Comparative Wordlist—Time and Space

Edited by G. N. Devy

Volume 50

The Future of Indian Languages

Part One—Hindi

Edited by G. N. Devy

Part Two—English

Edited by G. N. Devy

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण

'भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण' विद्वानों, लेखकों व कार्यकर्ताओं का विभिन्न बोली-समुदायों के सदस्यों के साथ साझेदारी में चलाया गया एक अभियान है।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण के मुख्य उद्देश्य

- 2011 तक विकसित भारत की भाषाओं का जिस रूप में वे हैं, सिंहावलोकन प्रदान करना।
- बिना विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक भेदभाव के, सदस्यों का एक कार्रवाई नेटवर्क बनाना, जो सतत विकास के लिए प्रतिबद्ध हो और ज्ञान प्रणालियों के जीवन को बढ़ाने और परंपराओं के लिए समुदाय संरक्षक तैयार करना।
- विभिन्न भाषा समुदायों के बीच पुल तैयार करना, जिससे भारतीय समाज का बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक आधार मज़बूत हो सके।
- सरकार और भाषायी समुदायों के बीच घनिष्ठ संबंध बनाना एवं विविध पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए सरकार की सार्वभौमिक विकास रणनीति को सद्भाव के साथ लागू कराना।
- शिक्षण सामग्री और मातृभाषा में शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए क्षमता का विकास करना।
- भविष्य में भारत के भाषायी और सांस्कृतिक विरासत के सर्वेक्षण के लिए एक आधार प्रदान करना।
- मानव सुरक्षा व अस्तित्व के हित में दुनिया में भाषायी समुदायों द्वारा पीढ़ियों से पोषित और संरक्षित भाषायी, सांस्कृतिक व जैविक विविधता के क्षय व पतन को रोकना एवं उन्हें विलुप्त होने से बचाना।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण क्या नहीं है

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का मकसद न ही ग्रियर्सन के भारतीय भाषायी सर्वेक्षण को दोहराना है और न ही यह उसका विकल्प या प्रतिस्थापन है, और न ही एक नमूना सर्वेक्षण या जनगणना सर्वेक्षण का कोई हिस्सा है।

यह भारत की उस प्रत्येक भाषा का जो आज अस्तित्व में है, एक विस्तृत सर्वेक्षण भी नहीं है।

और न ही भारतीय भाषा समुदायों के लेखन या ध्वनि के मानक तय करने की कवायद है।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण है

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण एक त्वरित, गैर पदानुक्रमित, सार्वजनिक परामर्श और मूल्यांकन है, जिसका लक्ष्य विकास के सांस्कृतिक प्रभाव का आकलन करना और सभी के स्वत्व व आत्मसम्मान को स्वीकार करना है, विशेष रूप से भारत के लुप्तप्राय: बोली-समुदायों का। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का निर्देशन, स्वैच्छिक रूप से संगठित राष्ट्रीय संपादन मंडल द्वारा किया गया है।

1 जीवित भारतीय भाषाएँ

भाषा की मृत्यु और भाषा की जीवन्तता

हमारे समय में भाषाओं के लोप में आई तेजी ने दुनिया भर में गंभीर चिन्ता पैदा कर दी है। आज दक्षिणी दुनिया में शहरीकरण की प्रवृत्ति जीवन को नए ढंग से प्रभावित कर रही है जिसकी वजह से देशज भाषाओं की अस्मिता की जानबूझकर अनदेखी करना एक मामूली घटना बन गई है। आज लगभग हर देश के विद्यालयों में विद्यार्थियों को लगातार यह सिखाया जा रहा है कि वे एक या दूसरी वैश्विक भाषा का प्रयोग करें। वैश्विक भाषाएँ या 'मेगालेंग्विजेज' स्थानीय भाषाओं के लिए खतरा बन गई हैं, ऐसा महसूस किया जा रहा है (लुकानोविक (Lukanovic), 2010; मेयिरकोर्ड (Meierkord), 2012)। इसी तरह, राष्ट्र की वह अवधारणा भी उपराष्ट्रीय भाषाओं (Sub-national languages) के लिए खतरा सिद्ध हो रही है जिसके अनुसार माना जाता है कि भाषा या भाषाओं की अवधारणा राष्ट्र की एकता के संरक्षण के लिए है। इन सबके बीच उपराष्ट्रीय या स्थानीय भाषाओं ने भी यह अपेक्षा करना सीख लिया है कि विकास की मंजिल पाने के लिए अन्य छोटे समुदायों और उनकी भाषाओं को उनकी तरफ आना चाहिए। सच तो यह है कि स्वयं 'मेगा' भाषाओं और राष्ट्रीय भाषाओं के प्रभाव से उनकी खुद की स्थिति असहज होती जा रही है। इस प्रकार वर्चस्व के भय और अस्तित्व की चिंताएँ दुनियाभर में भाषाओं को विचलित कर रहीं हैं। ये चिंताएँ यहीं तक सीमित न रहकर 'मेगा' भाषाओं को भी सता रहीं हैं क्योंकि उनके भी विभिन्न महाद्वीपों में विशिष्ट प्रकार उभर रहे हैं जोकि उनसे काफी भिन्न हैं (बार्बर (Barber), 1993; ब्रैग (Bragg), 2003; श्रेयर (Schreier), 2010)। मानना पड़ेगा कि भाषाओं के लोप होने की चिन्ता आज जिस पैमाने पर हर मन को झकझोर रही है वैसा मानव इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ।

मान लीजिए आप भाषा और भाषाविज्ञान के महत्त्वाकांक्षी विद्यार्थी हैं। अब कल्पना कीजिए कि आप टाइम मशीन (समययान) में यात्रा कर रहे हैं। इस टाइम मशीन को प्राचीन यूनान की ओर जाने दीजिए। यहाँ भाषा से जुड़े बहुत सारे सवाल उभरेंगे : भाषा में अर्थ कैसे आता है या कैसे भाषा अर्थ में रूपान्तरित होती है। यह 'प्रवेश' या 'देहान्तरण' उस तत्त्व का रूपान्तरण करता है जो मूलत: या तो अर्थ है या भाषा। यदि आप सुकरात की बातचीत या प्लेटो के सम्वादों को सुनेंगे तो पाएंगे कि भाषा, उसकी उत्पत्ति, संप्रेषण या अर्थ का अंतरण आदि की चर्चा में 'छाया' केन्द्र में थी। 'छाया' का अर्थ यहाँ 'प्रकाशकीय छाया' (optical shadow) है (चेपेल (Chappell), 1996)। अब आप टाइम मशीन को मौर्य काल से पहले के भारत की ओर ले जाइए। फिर पाणिनि को 'सूत्रपाठ' की व्याख्या करते हुए सुनिए जिसके द्वारा वे अपनी 'अष्टाध्यायी' को समझा रहे हैं। यहाँ आप जान पाएंगे कि व्यक्त भाषाएँ कैसे सामाजिक प्रारूपों द्वारा हथिया ली जाती हैं और किस प्रकार शिष्ट (भद्र) और उपदिष्ट (व्याकरण सम्मत भाषण) एक-दूसरे के बचाव के लिए जमे हुए हैं? (देवी (Devy), 2009, 96-97; ट्रॉटमन (Trautmann), 2006, 42-51)। आप भी देखेंगे कि यहाँ मुख्य सरोकार इस बात को लेकर है कि व्यक्त में से अव्यक्त को बेहतर ढंग से बाहर कैसे निकाला जाए। अब इतिहास में लगभग सात सदियों तक आगे बढ़िए और भर्तृहरि के कालसम्मुदेश की व्याख्या सुनिए जो कि उनकी प्रसिद्ध रचना वाक्यपदीय की पूरक है। आप पाएंगे कि भाषा संबंधी सरोकार काफी तेजी से बदल रहे हैं। पाणिनि के व्याकरण की परम्परा तथा न्यायदर्शन के उभरते सिद्धांतों पर आधारित समकालीन दार्शनिकों के द्वंद्व के बीच भर्तृहरि अपनी उभयमुखता से विचारों को शोभित कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें भाषा में काल को एक साथ रेखीय, चक्रीय तथा बहुआयामी बताते हुए पाएंगे (देवी (Devy), 1998, 21-28)। अब टाइम मशीन को पुनर्जागरण काल के बाद यूरोप के जर्मनी और फ्रांस की ओर जाने दीजिए और उस समय के बौद्धिक अड्डों में गेटे, शिलर, शीलिंग, हर्डर जैसे महान चिंतकों की तीखे तर्कों से भरी चर्चा सुनिए। उनके विचारों के साथ उस समय के उपनिवेशित देशों से विलियम जोंस, चार्ल्स विल्किंस, फ्रांसिस एलिस आदि के आयातित विचारों को भी सुनिए। आपको समझ में आएगा कि ये सभी यह पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि मिथकीय 'बैबल की मीनार' (Tower of Babel) के ध्वस्त होने से उपजी वेदना को कैसे कम किया जाए? (ट्रॉटमन (Trautmann), 2006)। आप उन्हें यह कहते हुए सुनेंगे कि पृथ्वी के किसी भी हिस्से में बोला गया शब्द किसी न किसी दूर के समाज से कहीं न कहीं जुड़ा हुआ था। कैसे 'इतिहास' भाषा की प्रगति का एक मात्र तर्क है और कैसे 'मूल प्रकृति' एक भाषा की आत्मा है। अब फिर मशीन का बटन दबाइए और आधुनिक काल में आइए। अब पेरिस में अपने विद्यार्थियों के बीच फर्दिनंद दी सौस्यूर (Ferdinand de Saussure) के व्याख्यानों को सुनने के लिए बैठ जाइए। यदि आपके पास समय हो तो क्लौड लेवी-स्ट्रास (Claude Levi-Strauss) से दो बात करना ना भूलें। यहाँ से आप यह स्वीकारे बगैर आगे नहीं बढ़ पाएंगे कि भाषा एक यादृच्छिक (arbitrary) व्यवस्था है जो केवल ज्ञान-अनुशासन की सुविधा की दृष्टि से बनी है और द्वित्व (binary) आधारित नक्शानवीसी के लिए ज्यादा उपयोगी है। टाइम मशीन में इतना सारा समय बिताने के बाद आप अपनी यात्रा अटलांटिक समुद्र के किनारे मैसाचुसेट्स में पूरी करना चाहेंगे। यहाँ आप युवा चॉमस्की (Chomsky) को सुनिए जो जिन्दा या मरी सभी भाषाओं के सार्वभौमिक शब्दार्थ-विज्ञान (semantics) के आविष्कार की संभावनाओं को तलाश रहे हैं। जैसे ही आप टाइम मशीन से निकल कर बाहर आएँगे तो आपको अचानक प्राकृतिक भाषाओं की मृत्यु को लेकर मचा भारी कोलाहल सुनाई देगा।

आपकी यह काल्पनिक यात्रा दिशाहीन करनेवाली, सामान्य अवलोकन भरी, थोड़ी संक्षिप्त और निस्संदेह सरलीकृत भी रही होगी। उससे निश्चय ही यह बात साफ हो गई होगी कि भाषा चिंतनशील लोगों के लिए मुख्य सरोकार रही है और कोई भी चिंतन भाषा के अभाव में सम्भव नहीं हो सकता (मार्ले-पोंटी (Merleau-Ponty)

2012)। समाजों के इससे जुड़े सरोकार समय-समय पर बदलते रहे हैं। आज के समय की मुख्य चिंता अनेक भाषाओं का आकस्मिक पतन है। ऐसा कहा जाता है कि भाषाएँ हमेशा उत्थान और पतन के स्वाभाविक चक्र से गुजरती हैं किन्तु हमारे समय में प्राकृतिक भाषाओं के तेजी से होते पतन का बहुत ज्यादा अनुपात देखा जा रहा है (क्रिस्टल (Crystal), 2000; फ्लोरे (Florey), 2010; नेटल तथा रोमैन (Nettle and Romaine), 2000)। इस प्रकार, जैसे ही मैंने अपने अत्यन्त विश्वसनीय मित्रों से भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (पी.एल.एस.आई.) के बारे में बताया तो उनका पहला ही सवाल था "कितनी भाषाएँ हाल ही में मृत हो चुकी होंगी आपके हिसाब से? प्रिंट और इलेक्ट्रोनिक मीडिया में पी.एल.एस.आई. के सन्दर्भ में बहुत-कुछ प्रकाशित हुआ है और इसी सन्दर्भ में मेरे साक्षात्कार मीडिया के अनेक लोगों ने लिए। किसी भी साक्षात्कार में ऐसा नहीं हुआ कि मुझसे यह न पूछा गया हो ऐसी कुछेक भाषाओं का नाम लें जिनका लोप हो चुका हो। इसके विषय विशेषज्ञों की प्रतिक्रियाएं भी आम आदमी या मीडिया से भिन्न न थीं। हाल के वर्षों में जितनी पुस्तकें भाषिक पतन और भाषाओं की मृत्यु से सम्बन्धित प्रकाशित हुई हैं उतनी भाषा और भाषा विज्ञान के अध्ययन के इतिहास में कभी नहीं आईं। सैकड़ों प्रमुख पुस्तकों में कुछ पुस्तकों का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। *लैंग्वेज डेथ* (Language Death) (भाषा की मृत्यु) (क्रिस्टल (Crystal), 2000), *वैनिशिंग वॉयसेज* (Vanishing Voices) (लुप्त होती भाषाएँ) (नेटल तथा रोमैन, 2000), *कैन थ्रेटेन्ड लैंग्वेजज बी सेव्ड* (Can Threatened Languages Be Saved?) (क्या लुप्तप्राय: भाषाएँ बचाई जा सकती हैं?) (फिशमैन (Fishman), 2001), *लैंग्वेज एनडैंजरमैण्ट एण्ड लैंग्वेज मेंटेनेंस* (Language Endangerment and Language Maintenance) (भाषा को खतरा तथा भाषा का संरक्षण) (ब्रैडले एण्ड ब्रैडले (Bradley and Bradley), 2002), *लैंग्वेज डेथ एण्ड लैंग्वेज मेंटेनेंस* (Language Death and Language Maintenance) (भाषा की मृत्यु और भाषा का पोषण) (जेंस एण्ड टॉल (Janse and Tol), 2003), *लैंग्वेज इन डैंजर* (Languages in Danger) (संकट ग्रस्त भाषाएँ) (डेलबी (Dalby), (2003), *सेविंग लैंग्वेजेज* (Saving Languages) (भाषा का बचाव) (ग्रीनबोले एण्ड वेले (Grenebole and Whaley), 2006), *व्हेन लैंग्वेजेज डाई* (When Languages Die) (जब भाषाएँ मरती हैं)(हरीसन (Harrison) 2007), एनडैंजर्ड लैंग्वेजेज ऑफ ऑस्ट्रोनेशिया (Endanger Languages of Austronesia) (ऑस्ट्रोनेशिया की लुप्तप्राय: भाषाएँ), (फ्लोरे (Florey), 2010) तथा *व्हेन लैंग्वेजेज ब्रेक्स डाउन* (When Languages Breaks Down) (जब भाषाएँ समाप्त हो जाती हैं) (ऐस्प एण्ड विलियर्स (Asp and Villiers), 2010)।

भाषिक संकट तथा संकट ग्रस्त भाषाओं के सन्दर्भ में बहस की महत्ता को यूनेस्को ने भी स्वीकार किया है। यूनेस्को ने 1996 में दि एटलस ऑफ दि वर्ल्ड'स लैंग्वेजेज इन डेंजर ऑफ डिसअपीयरिंग (सम्पादक स्टीफन वर्म (Stephen Wurm)) (विश्व की भाषाओं में विलुप्तप्राय: भाषाओं का मानचित्र) का पहला संस्करण प्रकाशित किया जो 2001 में संशोधित रूप में आया। 2005 में यूनेस्को ने उसका पुन: संशोधन एवं सम्पादन किया तथा उसे ऑनलाइन उपलब्ध करा दिया। 2010 में क्रिस्टोफर मोस्ले (Christopher Moseley) के सम्पादन में इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित किया गया।

वैश्विक भाषिक संकट

विगत दो दशकों से वैज्ञानिकों ने भाषाओं के जीवन के पूर्वानुमान का गणितीय आधार तैयार कर लिया है (ब्रैग्स एण्ड फ्रीडमैन (Braggs and Freedman), 1993)। ये पूर्वानुमान निश्चय ही यह बताते हैं कि मानव जाति तेजी से उस दिशा में बढ़ रही है जहाँ उसकी भाषिक विरासत का बहुत बड़ा हिस्सा खत्म होने जा रहा है। इन पूर्वानुमानों से यह तो नहीं पता चलता कि कितना हिस्सा कितनी देर में खत्म हो जाएगा लेकिन वे इस बात से सहमत हैं

कि मनुष्य की स्वाभाविक भाषाओं का लगभग तीन-चौथाई हिस्सा मृत्यु की दिशा में बढ़ रहा है। इसके विपरीत, भाषिक वैश्वीकरण के वहीं समर्थक भी हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में यह माना गया कि संस्कृतियों में एकरूपता को प्रोत्साहित किया जाए। इस विचार को उन वर्गों का समर्थन मिला जो अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीकरण से लाभ लेना चाहते हैं। वे चाहेंगे कि दुनियाभर में एक या कुछ भाषाएँ ही रहें जिससे विभिन्न देशों के बीच संप्रेषण पूरी तरह से सहज हो जाए। स्वाभाविक है कि जिन देशों और सम्प्रदायों ने एक भाषा के साथ ही जीना सीख लिया है, जिनकी अर्थव्यवस्था दूसरी भाषाओं को जाने बगैर भी सुरक्षित है और जिनका ज्ञान-विज्ञान उनकी भाषाओं में ही सुरक्षित है वे सब तो भाषा के विलुप्त होने की चिन्ता से नहीं परेशान होंगे। कम-से-कम अभी तो ऐसा नहीं लगेगा किन्तु वैश्वीकरण विश्व की समग्र भाषिक धरोहर से मानव प्रतिभा तथा सभ्यताओं की समृद्धि को कम कर देगा जिससे उन पर भी परोक्ष रूप से अत्यधिक दुष्प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि भाषाएँ ही हमें मुख्यत: मनुष्य बनाती हैं और अन्य प्राणियों से अलग करती हैं; तथा मानव चेतना भाषिक अभिव्यक्ति की क्षमता के कारण ही सक्रिय हो सकती है, इसलिए यह जरूरी है कि भाषा को सांस्कृतिक पूंजी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हिस्सा माना जाए (ब्लेंज एण्ड स्प्रिग्स (Blench and Spriggs), 2012; मैकमोहन एण्ड मैकमोहन (McMohan and McMohan), 2013)। इस अनमोल पूंजी के संचयन में मानव जाति को लगभग पाँच लाख साल लगे हैं। वर्तमान समय में हम इसका ज्यादातर हिस्सा खो देने के करीब पहुँच गए हैं। कुछ पूर्वानुमानों से ऐसा लगता है कि लगभग 6000 मौजूदा भाषाओं में से बाइसवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते इसका थोड़ा सा हिस्सा ही बचा रह जाएगा (क्रिस्टल (Crystal), 2000)। भाषाओं का समग्र सर्वेक्षण किए बिना यह कह पाना कठिन होगा कि वास्तव में कुल कितनी भाषाएँ अभी मौजूद हैं और उससे भी ज्यादा कठिन यह होगा कि कितनी और कौन सी भाषाएँ जीवित रह पाएंगी। प्रत्येक भाषा का इतिहास आश्चर्यजनक और कई बार अनपेक्षित परिस्थितियों से होता हुआ विकसित होता है। इस प्रवृत्ति का ही एक ताजा उदाहरण है, संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं की गईं कुछ भाषाएँ जैसे अरबी, भीली, चांग, खेजहा (परिशिष्ट 1)। ऐसा सभी सामाजिक-सांस्कृतिक-भाषिक आकलनों पर लागू होता है। इतिहास में देखा गया है कि शक्तिशाली शासकों के समर्थन से कुछ अत्यधिक विकसित भाषाएँ खण्डित हो गईं और सत्ता के प्रभाव में कुछ नई भाषाओं को उभरने का अवसर मिल गया। यद्यपि, कुछ अपवाद अभी भी हैं और वे भविष्य में भी रहेंगे, यह भाषिक वैविध्यवाले देशों का जीवन्त अनुभव रहा है कि भाषिक आदान-प्रदान तथा विश्व धरोहर में तेजी से हो रहे परिवर्तन के बावजूद वे बने रहे हैं। इन देशों में शामिल हैं, नाइजीरिया, मैक्सिको, पापुआन्यूगुएना, इण्डोनेशिया तथा भारत। गैर वैश्विक भाषा-भाषियों में जटिल अवधारणाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता का तेजी से ह्रास हो रहा है तथा अनेक भाषाओं में शब्दों की प्रतीकात्मक बुनावट खत्म होती जा रही है।

हमारे इतिहासकार मानते हैं कि कमोवेश यही स्थिति सात-आठ हजार वर्ष पहले भी आई थी (क्रिस्टल, 2000)। यह तब हुआ था जब मानव जाति ने प्रकृति और बीजबपन की जादुई व्यवस्था खोज निकाली थी। जब आखेटक पाषाणकालीन अर्थव्यवस्था के पश्चात आरंभिक कृषि अर्थव्यवस्था का दौर आया तब माना जाता है कि विश्व का भाषिक वैविध्य अत्यधिक प्रभावित हुआ (ब्लेंच एण्ड स्प्रिग्स (Blench and Spriggs), 2012; कॉर्बेलिस (Corballis), 2011)। निष्कर्षत: यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वर्तमान संकट का कारण भी मुख्यत: अर्थव्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन ही है जिससे विश्व के सभी भागों में यह परिवर्तन देखा गया है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में हुए इस परिवर्तन के कारण ही भाषिक संकट उत्पन्न हुआ है। इस बार, हालांकि, संकट में एक और आयाम जुड़ गया है क्योंकि ज्यादातर मानवीय गतिविधियां मानवनिर्मित बौद्धिकता के वर्चस्व में हो रही हैं। कृत्रिम संसाधनों से निर्मित प्रौद्योगिकी पूर्णत: मानव विवेक को भाषिक संप्रेषण के समान्तर प्रेरित और प्रभावित कर रही है। मानसिक या मनोवैज्ञानिक व्यवस्थाओं के पीछे-पीछे चलने वाली प्रौद्योगिकी व्यवस्था का अभी भी आमतौर

पर उपयोग नहीं किया जाता। भाषा पर आधारित प्रौद्योगिकी आजकल अर्थ मीमांसा के क्षेत्र में पूरी तरह प्रवेश कर गई है जो मानव समुदायों को एक साथ जोड़ दे रही है (गिलेस्पी (Gillespie), 2007)। इस प्रकार, पूरी दुनिया नई शक्ल ले रही है। आजकल भाषा, साइबर स्पेस (साइबर की दुनिया) में उतनी ही अर्थ विज्ञान की व्यवस्था है और एक मशीन से दूसरी मशीन के बीच प्रभावी संप्रेषण की व्यवस्था है, जितनी यह सामाजिक क्षेत्र में एक समुदाय से दूसरे समुदाय के बीच संप्रेषण का माध्यम रही है।

यद्यपि, इन सब बातों को दार्शनिक शब्दावली में अवधारणात्मक स्तर पर प्रस्तुत किया जा सकता है, और उसे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है, किन्तु इससे विभिन्न समुदायों का जीवन प्रभावित हो रहा है, खासतौर से इससे वे समुदाय प्रभावित हो रहे हैं जिनकी आवाजें नहीं सुनी जा रही हैं और वे व्यापक आदान-प्रदान के दौर में केवल आयातक स्थिति में ही पहुँच गई हैं। यदि ऐसी कोई भाषा हो जो किसी भी वर्तनी व्यवस्था में प्रतिनिधित्व न दे सके तो उसे एक बोझ समझा जाता है जो विकास की दिशा में बहुत पिछड़ी है और वह पिछड़ेपन की सूचक मानी जाती है। इन भाषाओं में जो ज्ञान का भण्डार है उसे ज्ञान माना ही नहीं जाता। यही नहीं, जो अनेक भाषाएँ शताब्दियों से विकसित हो चुकी हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वे भी अपनी सांस्कृतिक पूंजी रही भाषिक विविधता को भूलती जा रही हैं। पिछले कुछ दशकों से इन देशों में ऐसे व्यवस्थागत मापदण्ड और नीतियां अपनाई गई हैं जिनके द्वारा उपयोग में आने वाली भाषाओं की संख्या को कम किया जा सके। यदि अनेक भाषाएँ बची भी रहती हैं तो उनके ऊपर जिन भाषाओं के पोषण और संवर्धन का दायित्व रहे उनके आधार पर इन देशों में राजभाषा नीति को लागू करने पर कोई प्रभाव न पड़े (बिनको (Bianco), 2012; क्रू (Cru), 2010; ग्रिन एण्ड विलनकोर्ट (Grin and Villancourt), 1999; स्पोलस्की (Spolsky), 2012)।

भारतीय जनगणना प्राधिकरण ने 1971 की जनगणना के बाद यह निर्णय लिया कि 10,000 से भी कम लोग जिन भाषाओं को बोलते हैं उन भाषाओं को सार्वजनिक रूप से अभिलेख में दर्ज कराना आवश्यक नहीं है। इसके परिणामस्वरूप वे भाषाएँ भारतीय गणतन्त्र की नागरिकता से वंचित हो गईं जो सदियों से इसके इतिहास का हिस्सा रही हैं (निगम (Nigam), 1972)। निश्चय ही 1970 के दशक में जनगणना के संदर्भ में लिया गया यह निर्णय कोई अचानक लिया गया निर्णय नहीं था। इसकी शुरुआत औपनिवेशिक काल में ही हो चुकी थी जब छापाखाने की मशीनी सुविधा का लाभ एक प्रतिशत से भी कम भारतीय भाषाओं को मिला। सम्भवत: बौद्धिक इतिहास में चल रही प्रक्रिया के दो शताब्दियों के संचयन का ही यह परिणाम था।

कब्रगाह और जंगल

भाषिक पतन के सरोकार के सामान्य परिवेश के वातावरण पर विचार करते हुए यह जानने की उत्सुकता होगी कि हाल में कितनी भारतीय भाषाएँ विलुप्त हुई हैं या अब कितनी मरणासन्न हैं तथा कितनी संकटग्रस्त हैं और कितनी जल्दी ही लुप्तप्राय: होने की संकटग्रस्त परिधि में पहुँचने वाली हैं। यह स्वाभाविक जिज्ञासा है और इतिहासकारों से उठने वाले सवाल भी अपेक्षित ही हैं। यूनेस्को की सूची में लगभग दो सौ भाषाओं के नाम शामिल हैं (परिशिष्ट 2)। यह सूची प्रकाशित होते ही आलोचना के दायरे में आ गई है क्योंकि इसमें कुछ तथ्यात्मक भूले हैं। उदाहरण के लिए, मैतयी या मणिपुरी, जो भारत की 8वीं अनुसूची में शामिल भाषा है तथा मणिपुर की राजभाषा है तथा मिजो भाषा जो मिजोरम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषा है - इनको भी इस सूची में शामिल कर लिया गया है, इसी प्रकार गढ़वाली, गोंडी तथा बोडो भाषाएँ भी यूनेस्को की सूची में शामिल हैं जो पिछले सालों में अपनी अस्मिता के उभार के लिए शामिल जिन अधिकांश भाषाओं को 'संकटग्रस्त' भाषाओं के रूप में चिन्हित किया गया है, उनके समुदाय

के प्रतिनिधियों ने उन भाषाओं के बारे में ज्यादा जानकारी दी है और उन समुदायों के लोग अभी यह नहीं मानते कि उनकी भाषाएँ लुप्तप्राय: या मरणासन्न भाषाओं की स्थिति में पहुंच गई हैं।

इस तथ्य के बावजूद कि प्राकृतिक भाषाएँ दुनिया भर में तेजी से पतनशील अवस्था में पहुंच रहीं हैं, भारत जैसे बहुभाषी देश के लिए शायद यह जरूरी हो गया है कि हम वर्तमान भाषिक विविधता तथा जीवंत भाषाओं की सम्पदा को ज्यादा उजागर करें, न कि भाषा के विलुप्त होने की स्थिति को। यदि भारतीय भाषाओं में से, 'संकटग्रस्त' भाषाओं की कोटि में जितनी भाषाओं को शामिल किया गया है उनको पूर्णत: स्वीकार भी कर लिया जाए तो यह संख्या स्पेन, अमेरिका, अर्जेंटीना या ऑस्ट्रेलिया की इस कोटि की भाषाओं से काफी ज्यादा है। यह इसलिए भी बताना जरूरी है कि भारतीय भाषाओं की संख्या उनसे बहुत अधिक है तथा अभी भी पूर्ण रूप से आंकड़ेवार नहीं रखी गई है। विगत पचास वर्षों में जीवन्त भारतीय भाषाओं की संख्या के निर्धारण के कई औपचारिक प्रयास किए गए। इसके बावजूद कोई ऐसी संख्या नहीं बताई जा सकती। जीवन्त भारतीय भाषाओं की संख्या निश्चित करना समस्यापूर्ण कार्य रहा है। ऐसी स्थिति में भारतीय भाषाओं के सामूहिक स्थल को भाषाओं की कब्रगाह नहीं अपितु भाषाओं के अरण्य-भाषा-वन के रूप में देखना चाहूंगा।

भाषा-वन - वास्तविक और रूपकात्मक

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण कार्य निष्पादन की सार्वजनिक घोषणा मैंने बड़ौदा में मार्च 2010 में की थी। यह 'भाषा-संगम' नाम से तीन दिन की हुई बैठक के दौरान किया गया जिसके लिए अंग्रेजी में उप-शीर्षक 'लैंग्वेज कांफ्लूएंस एट ग्राउण्ड जीरो' रखा गया। भाषा संगम में सभी राज्यों और संघशासित क्षेत्रों की 320 भाषाओं के प्रतिनिधि के रूप में सात सौ संस्कृतिकर्मियों तथा विद्वानों ने भाग लिया। दूसरे दिन सभी तेजगढ़ गाँव की नब्बे किलोमीटर लंबी यात्रा के लिए चल पड़े जहां मैंने आदिवासी अकादमी की स्थापना की है। आदिवासी अकादमी देशज और घुमंतू जातियों की 'भाषाओं' का एक मंच है। हर प्रतिभागी ने एक पौधारोपण किया जो उनकी भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा के प्रतीक के रूप में भी व्यक्त किया गया। ये पौधे अकादमी की उर्वर भूमि में पनप रहे हैं और कुछ तो वृक्षाकार भी हो चुके। पारिस्थितिकीय और सांस्कृतिक विविधता के बीच वृक्ष 'बोले' (ऑडियो गाइड और सेंसर के द्वारा) सभी जीवित भारतीय भाषाओं से सीधा सम्वाद शुरू करने के लिए हमने तय किया कि जब कोई बच्चा इन वृक्षों के निकट से गुजरेगा तो उसे भारत की जीवन्त भाषाओं में गीतों या कहानी की स्वर लहरियां सुनाई पड़ेंगी। इस स्थान को हम भाषा-वन कहते हैं। प्रस्तावना का हिस्सा मानकर यह मैं कहना चाहता हूँ कि वन के रूपक के प्रयोग से अंतरभाषिक तादात्म्य तथा भाषाओं के बीच अंतस्सम्बन्ध को अवधारणात्मक रूप से प्रस्तुत करने में सहायता मिलती है - यह अधिकांश भारतीय भाषाओं की गहरी जड़ों और उनकी रचनात्मक क्षमता में मौजूद है।

20वीं शताब्दी के आखिरी कुछ वर्षों में जब इस कार्य की शुरुआत की गई तब मैंने सोचा था भारतीय भाषाओं का मापन वानिकी के ज्यादा निकट होगा न कि मानचित्रीकरण कें भारतीय भाषा सर्वेक्षण भाषा-वन से गुजरती हुई एक यात्रा है न कि भाषाओं की कब्रगाह से गुजरती यात्रा; इसलिए सर्वेक्षण में उन सवालों के जवाब खोजने में ज्यादा समय और ऊर्जा नहीं लगाई गई कि कितनी भाषाएँ संकटग्रस्त हैं?

भारत में कितनी जीवित भाषाएं हैं ?

मुझसे जो दो सवाल बार-बार पूछे गए उनमें से दूसरा सवाल था, भारत में वास्तव में अभी कितनी भाषाएँ बची हैं? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना कठिन है। जैसा पहले भी कहा है कि वास्तविक संख्या को निर्धारित कर पाना कठिन

है जिसे हम आत्मविश्वास के साथ बता सकें। यूनेस्को जीवन्त भारतीय भाषाओं की संख्या पांच सौ बताता है। एथनोलोग अनुसंधान संस्था मानती है, ''भारत में सूचीबद्ध भाषाओं की संख्या 461 है। इनमें से 447 जीवित हैं और 14 लुप्तप्राय:। जीवित भाषाओं में 75 स्थापित और 127 विकासशील अवस्था में, 178 ऊर्जावान, 55 संकट में तथा 12 मरणासन्न हैं।'' (www.ethnologue.com/country/in संदर्भ : 6 जुलाई 2013)।

भारत में सर जार्ज ग्रियर्सन (Sir George Grierson) द्वारा भारतीय भाषा सर्वेक्षण 1903-1926 में हुआ था जिसके लिए सामग्री 19वीं शताब्दी के आखिरी दशक में संकलित की गई थी। इसमें 179 भाषाओं और 544 बोलियों को सूचीबद्ध किया गया है। 1921 की जनगणना की रिपोर्ट में 188 भाषाओं तथा 49 बोलियों को सूचीबद्ध किया गया है। 1961 की जनगणना में कुल 1,652 मातृभाषाओं का उल्लेख है जिनमें से 184 भाषाओं को बोलने वालों की संख्या 10,000 से ज्यादा है। इन भाषाओं में से 400 भाषाओं का उल्लेख ग्रियर्सन के सर्वेक्षण में नहीं हुआ था, जबकि 527 भाषाओं को 'अवर्गीकृत' श्रेणी में रखा गया था। इसके अतिरिक्त, 103 मातृभाषाओं को 'विदेशी' भाषाओं की श्रेणी में रखा गया था। इसके पहले 1951 की जनगणना में जितनी 'विदेशी' भाषाओं को भारत में बोली जाने वाली भाषा के रूप में चिन्हित किया गया उनकी संख्या 63 थी। इस प्रकार, 1961 की जनगणना में जितनी 'विदेशी' भाषाओं की संख्या बताई गई वह एक दशक में 40 नई भाषाओं की 'खोज' के रूप में सामने आती है। 1971 की जनगणना में जो भाषायी आंकड़े प्रस्तुत किए गए वे दो श्रेणियों में विभक्त थे, भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल भाषाएँ तथा वे भाषाएँ जिनको बोलने वालों की संख्या 10,000 से कम थी; उन सभी को 'अन्य' की श्रेणी में एक साथ शामिल कर लिया गया। इसके बाद यह रीति सतत अपनाई जाने लगी।

इसमें कोई अचरज नहीं कि बड़ी जनसंख्या वाले देशों में जनगणना कितना दूभर कार्य होता है; यह जानते हुए और विशेषकर ऐसी जनगणना के आंकड़ों की शुद्धता, जहां यह जनसंख्या की साक्षरता स्तर पर निर्भर करती हो, निश्चित ही विश्वसनीय कम होती है। हालांकि, अचरज की बात तो यह है कि कोई 310 भाषाएं, जिनमें 263 भाषाओं के 5 से भी कम वक्ताओं और 47 भाषाओं के 1000 से भी कम वक्ताओं के होने का दावा किया गया, इस स्थिति में होना चाहिए था। इन 310 'लुप्तप्राय:' भाषाओं को 1961 की जनगणना में 1652 मातृभाषाओं में सम्मिलित किया गया, फिर चाहे इस जनगणना के लिए अपनाई गई पद्धति कितनी ही विवादास्पद रही हो। इस भाषिक वर्गीकरण की कठिनाई यह है कि इसमें 'मातृभाषा' तथा 'आदिवासी भाषा' की कल्पना की जा सकती है, यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि 1961 की जनगणना में भी उन मातृभाषाओं की अधिकांश भाषाएँ पुनः देखी गईं जिनको अवर्गीकृत श्रेणी में रखा गया था। इनमें 520 से ज्यादा भाषाएँ सूचीबद्ध हैं। (परिशिष्ट 3)

1961 की जनगणना के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्ष हैं। जहां एक ओर वह उपयोगी उपकरण के रूप में प्रयोग की जा सकती है वहीं दूसरी ओर, भाषाओं के किसी भी नवीन वर्गीकरण के लिए एक समस्या है, फिर चाहे वह मातृभाषा, आदिवासी भाषा या अनुसूची में निबद्ध भाषा हो। भारत जैसे विशाल और बड़ी जनसंख्या वाले देश में जनगणना का कार्य कठिन होता है। इसके लिए जनगणना से जुड़े प्राधिकरण को जनगणना के आंकड़े/प्राधिकरण सार्वजनिक करने से पहले कई साल लग जाते हैं। एक दशक बाद 1971 में जब जनगणना हुई तब बांग्लादेश पाकिस्तान से अलग होकर स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया था। पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान के बीच टकराव का मुख्य कारण भाषा थी। इसने भारतीय अधिकारियों को भी सोचने के लिए मजबूर कर दिया। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि उसके बाद केवल उन भाषाओं का नाम सूचीबद्ध किया जाएगा जिनके बोलने वालों की संख्या कम-से-कम दस हजार होगी। इस तरह, वर्गीकरण के निर्धारण का आधार वैज्ञानिक नहीं था जिससे भाषाओं की अस्मिता और उनके हित का निर्धारण होता था। उदाहरण के लिए, भारत के अतीत में 9वीं शताब्दी के बाद

संस्कृत भाषियों की संख्या दस हजार से अधिक कभी नहीं रही। फिर भी इस भाषा के योगदान, उसकी भूमिका और उसके स्तर को लेकर कभी भी कोई सवाल नहीं उठाया गया। आज भी उसे बोलने वालों की संख्या उतनी नहीं है फिर भी संस्कृत संविधान की आठवीं अनुसूची में 21 अन्य भाषाओं के साथ शामिल है। यद्यपि, मनमाने ढंग से दस हजार भाषा-भाषी होने का मानदण्ड भाषाओं के नामोल्लेख के लिए आवश्यक माना गया। इसके कारण 1961 की जनगणना में मातृभाषाओं में शामिल 1652 भाषाओं की संख्या 1971 की जनगणना में घटकर सिर्फ 108 रह गई। इस जनगणना में एक और 109वीं श्रेणी बनाई गई 'अन्य' भाषाओं की (निगम (Nigam), 1992)। यद्यपि, 1961 की जनगणना के आंकड़े पहले से ही प्रकाशित होकर लोगों तक पहुंच गए थे किंतु सरकारी स्तर पर गोपनीयता बनाए रखने की धारणा ने लोगों के मन पर बुरा असर डाला, खासतौर से उन लोगों के मन पर जिनकी भाषाओं को बोलने वालों की संख्या कम होने के कारण हाशिए पर डाल दिया गया था। जनगणना के अधिकारियों के लिए भी दस हजार बोलने वालों से कम किंतु 'मजबूती से टिकी हुई' भाषाएँ एक चुनौती बन गईं। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक विशिष्ट भाषाओं को एक प्रमुख भाषा के साथ जोड़ दिया गया। इस प्रकार, 2001 की जनगणना के आंकड़ों में 'मातृभाषाओं' की संख्या घटकर 100 रह गई (यदि हम विभिन्न भाषा-समूहों की अलग कोटि न मानें तो)(परिशिष्ट 4)। इसमें वे 22 भाषाएँ भी शामिल हैं जो संविधान की आठवीं अनुसूची में हैं। यूनेस्को तथा भारतीय जनगणना के आंकड़ों में जो अप्रत्याशित बदलाव देखे गए हैं, उसके आधार पर यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि भारत में कितनी जीवित भाषाएँ हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कि कितनी भारतीय भाषाएँ जीवित हैं? वे आंकड़े ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें जनगणना ने अघोषित रखा न कि वे आंकड़े जो सार्वजनिक किए गए। महापंजीयक कार्यालय से 2001 की जनगणना से जाहिर हुई 'मातृभाषाओं' की संख्या को जानने के लिए कोई गंभीर अध्येता या शोधकर्ता इस संदर्भ में शोध करने का एक आवेदन देकर यह सूची प्राप्त कर सकता/सकती है। वैसे यह सहजता से उपलब्ध नहीं है। आंकड़ों को सार्वजनिक न करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जनगणना प्राधिकरण 2001 की जनगणना में मातृभाषाओं की सूची को एक विशिष्ट दस्तावेज मानता है। पिछले पांच दशकों से जो परंपरा चली आ रही है उससे लगता है कि 2011 की जनगणना के अनुसार मातृभाषा के आंकड़ों को इकट्ठा करने की प्रवृत्ति वही रहेगी। अनुसूची में नहीं शामिल भाषाओं के विकास की विभिन्न प्रवृत्तियों, लोगों के प्रवासन तथा देश भर में भाषाओं के छोटे समुदायों में होने वाले विभिन्न साहित्यिक आंदोलनों को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि यदि मातृभाषाओं की संपूर्ण सूची को प्रकाशित कर दिया गया होता तो लगभग 1600 से अधिक भाषाओं के नाम हम जान पाते। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण को प्रसन्नता होगी यदि महापंजीयक कार्यालय इन आंकड़ों को तैयार करके 2011 की जनगणना में लोगों ने जितनी मातृभाषाओं को दर्ज किया था उसे सार्वजनिक करे और इसे वर्गीकृत सूची के समान समझे, और यह उल्लेख न करे कि किन भाषाओं को ज्यादा संरक्षण की जरूरत है। जनगणना अधिकारी उसी नीति को अभी भी अपना रहे हैं जो उन्होंने 1971 के आंकड़ों को तैयार करते समय अपनाई थी। जिसमें 1961 की जनगणना के अनुसार 1544 मातृभाषाओं की संख्या को 1971 में घटाकर 108 कर दिया। 2011 की जनगणना के भाषायी आंकड़े पूरी तरह से अभी तक सामने नहीं आए हैं (क्योंकि मैं यह प्रस्तावना जुलाई 2013 में लिख रहा हूँ)। 1971 से 2011 तक विगत 40 वर्षों में जीवित भारतीय भाषाओं की जानकारी को सार्वजनिक करने के सम्बन्ध में भारी कमी को देखते हुए किसी भी जनगणना कार्यालय के अतिरिक्त किसी भी एजेंसी के लिए किसी भी निश्चित आंकड़े पर पहुंचना और यह तय करना कठिन होगा कि सर्वेक्षण का कौन सा तरीका अपनाए।

ग्रियर्सन के सर्वेक्षण में जो आंकड़े मौजूद हैं वे लगभग एक सौ साल से अधिक पुराने हो चुके हैं। उस समय

का भारतीय मानचित्र भी अब वैसा नहीं रहा और उसमें बहुत बदलाव आ गया है। एथनोलोग संस्था और यूनेस्को ने जो आंकड़े प्रस्तुत किए हैं वे विशेषज्ञों के संश्लिष्ट आकलन पर आधारित हैं न कि किसी समग्र सर्वेक्षण की रिपोर्ट के आधार पर। इन सभी कारणों से यह आवश्यक हो गया है कि भारत की जीवित भाषाओं का एक समग्र सर्वेक्षण करवाया जाए। यहाँ इससे जुड़े कुछ और सवालों पर विचार करना जरूरी होगा। विभिन्न मंचों पर ये सवाल पूछे जाते हैं कि हमें इतनी भाषाओं की जरूरत क्यों हैं? क्या सूचना प्रौद्योगिकी के इस दौर में वर्तमान शताब्दी में उनका बचा रह पाना सम्भव है? यही नहीं, क्या उतनी भाषाओं का होना आज औचित्य पूर्ण होगा जब सारी दुनिया एक विश्व ग्राम बनने की दिशा में तेजी से बढ़ रही है?

विविधता क्यों?

जिन देशों में जीवित भाषाओं की संख्या बहुत अधिक है उनमें व्यापक भाषिक विविधता को सतत बनाए रखने को लेकर सवाल उठाए गए हैं क्योंकि इनमें सभी देश अभी भी विकासशील देश ही हैं। (गिंसबर्ग एवं वेबर (Ginsburgh and Weber), 2011; मेफी (Maffi), 2011)। बहुत सी भाषाओं को बनाए रखने की जरूरत को प्रायः एक बोझ के रूप में समझा जाता है, खासतौर से नागरिकों की प्राथमिक शिक्षा और आजीविका के अधिकार के संदर्भ में। प्रायः ऐसा महसूस किया जाता है कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही भारत विश्व की महाशक्ति बन सकता है और इस व्यापक हो चुकी सोच को तेजी से बढ़ रहे अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों की संख्या को देखते हुए स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इसी पैमाने पर देखें तो अन्य सभी भाषाओं को प्रोत्साहन देना एक गहरी जिम्मेदारी और अवरोध मान लिया जाता है – जिनमें प्रमुख भाषाएँ, अनुसूची में शामिल भाषाएँ, क्लासिक भाषाएँ, जनजातीय भाषाएँ भी शामिल हैं।

अंग्रेजी जैसी विशाल भाषा के तेजी से बढ़ते उपयोग, या हिन्दी जैसी व्यापक भाषा के उपयोग और आजीविका पाने को सुनिश्चित करने के लिए मूक सामाजिक दबाव कि इन ही भाषाओं का उपयोग करें, यह दबाव न केवल 'अल्प संख्य भाषाओं' के ऊपर पड़ रहा है अपितु अधिकांश 'प्रमुख भाषाओं' पर भी यह दबाव पड़ रहा है; जिनकी अपनी लिपि है और 'सुस्थापित साहित्यिक' परंपरा भी है। औपनिवेशिक सत्ता के समाप्त होने के बाद आर्थिक दृष्टि से उपयोगी भाषा के रूप में उन भाषाओं की स्थिति लगातार खराब होती जा रही है जो समुदाय अपनी भाषाओं को अभी भी बोलते हैं, जैसे मराठी, गुजराती, कन्नड़ तथा उड़िया; उनकी युवा पीढ़ी इन भाषाओं को मातृभाषा के रूप में बोलने के स्तर पर उपयोग करने के बावजूद लिखित भाषिक सम्पदा का या तो उपयोग नहीं करती या बहुत कम करती है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दुनिया भर के लोग अपनी भाषिक धरोहर के संदर्भ में वैश्वीकरण की भारी कीमत चुका रहे हैं। इस भाषिक स्थिति को 'आंशिक भाषायी अधिग्रहण' कहा जा सकता है जिसमें पूर्ण साक्षर और अपेक्षाकृत सुशिक्षित व्यक्ति अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में पढ़, लिख और बोल सकते हैं किंतु अपनी मातृभाषा में केवल बोल सकते हैं लिख नहीं सकते।

भारतीय राज्यों का पुनर्गठन स्वतन्त्रता के बाद भाषायी आधार पर किया गया। जिन भाषाओं की लिपियाँ थीं उन पर विचार किया गया किंतु जिन भाषाओं की कोई लिपि नहीं थी और इसलिए उनका कोई मुद्रित साहित्य नहीं था। वे अपना कोई राज्य नहीं बना सकीं। स्कूल और कॉलेज केवल मान्य भाषाओं के लिए बनाए गए। जिन भाषाओं की लिपियाँ नहीं थीं चाहे वे मौखिक परंपरा में अत्यधिक बौद्धिक सम्पदा रखती थीं, उन भाषाओं को यह अवसर नहीं मिला कि ऐसी शैक्षिक संस्थाएँ हों जहाँ उन्हें पढ़ाया जाए। यद्यपि, संविधान के अनुच्छेद 347 में संरक्षण सुनिश्चित

करने की बात कही गई है –

> यदि राष्ट्रपति इस बात से सन्तुष्ट हो कि राज्य की काफी जनसंख्या यह चाहती है कि उनकी बोली जाने वाली भाषा को राज्य में मान्यता प्रदान की जाए, तो इस माँग के आधार पर राष्ट्रपति यह निर्देश दे सकते हैं कि उस भाषा को पूरे राज्य तथा उसके किसी हिस्से में उस कार्य के लिए सरकारी तौर पर मान्यता प्रदान की जाए जिस कार्य के लिए उस भाषा को वे उचित समझ कर निर्धारित करें।

इस प्रकार भाषिक विलोपन, भाषायी अंतरण तथा पतन जो भाषायी धरोहर में हो रहा है उसे केवल संरचनात्मक कारणों पर नहीं थोपा जा सकता। इसके लिए एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है, तेजी से हो रहे भूमण्डलीकरण में विकास-विमर्श। भारत तथा अन्य एशियाई और अफ्रीकी देशों में हम देख सकते हैं कि माता-पिता अपने बच्चों को अंग्रेजी, फ्रेंच और स्पैनिश भाषाओं के माध्यम से पढ़ाने के लिए इस उम्मीद से उत्सुक हैं कि उनके बच्चे अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कमाऊ पूत बन सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से देशों में शिक्षा का माध्यम अंतर्राष्ट्रीय भाषाएँ होने लगीं, जो अतीत में कभी नहीं देखा गया था।

भारत में 19वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में समाज सुधार के दौर में रोचक बहस छिड़ी थी जिसमें बंगाली बुद्धि जीवियों ने अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा की वकालत की जबकि कुछ औपनिवेशिक बुद्धि जीवियों जैसे माउंट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन, टॉमस मन्रो तथा एलेक्जेण्डर वॉकर का तर्क था कि विद्यालयी शिक्षा स्थानीय भाषाओं के माध्यम से देनी चाहिए (धर्मपाल (Dharampal), 2000)। इस बहस का अंत हुआ मैकाले के 'मिनट्स ऑन एजूकेशन' में, 1835 में जो इस सुझाव के साथ आया कि भारत में सभी गंभीर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना चाहिए (मेहूयु (Mayhew), 1926; नाइक (Naik), 1951)। यह उल्लेखनीय है कि उसके बाद से आधुनिक भारतीय भाषाओं में अत्यधिक सृजनात्मकता देखी गई। इन तर्कों का यह आशय नहीं है कि युवा पीढ़ी के छात्र-छात्राओं के लिए मातृभाषा में शिक्षा की परम महत्ता के विचार का कोई अन्य अर्थ निकाले। मैं तो इस तथ्य की ओर संकेतमात्र कर रहा हूं कि शिक्षा के अभाव को ही मानवीय सृजनात्मकता को नष्ट करने का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता है। इसका ज्यादा बड़ा कारण है, समुदाय के अस्तित्व के लिए कोई उम्मीद का न होना।

जब कोई भाषिक समुदाय यह मानने लगता है कि उसके अस्तित्व को बचाए रखने के लिए अन्य भाषा के साथ जुड़ना ही एक मात्र विकल्प है तब वह नई भाषिक स्थिति को स्वीकार कर लेता है (हैरिसन (Harrison), 2007)। इसलिए यह कहना जरूरी होगा कि आज के दौर में विश्व में विकास विमर्श में वही प्रभुत्वशाली होगा जो विश्व की भाषिक धरोहर का ह्रास कर रहा है और जो 'भाषिक संहार' की माँग कर रहा है। यदि यही स्थिति है तो राजनीतिक चिंतकों और अर्थशास्त्रियों को यह सोचना होगा कि मनुष्य की भाषाओं का भविष्य खतरे में है। जो समुदाय अपने स्थानीय और राष्ट्रीय परिदृश्य में हाशिए पर हैं और जो अपने सांस्कृतिक संदर्भ में हाशिए पर पहुँच गए हैं और जिनको अपनी आवाज उठाने से रोक दिया गया है वे सभी, जाहिर है कि इस युग के भाषिक संहार की अगली कतार में धकेल दिए गए हैं।

सरकारी संरक्षण और बाजार का प्रभाव

भारत में प्राथमिक शिक्षा कानूनी रूप से अभिभावकों की जिम्मेदारी तथा बच्चों का अधिकार है। कमजोर और वंचित लोगों के लिए विद्यालयी शिक्षा सरकार की ओर से मुफ्त दी जाती है इसलिए यह सहजता से ग्रहण की जा सकती है। दोपहर के भोजन की व्यवस्था भी बच्चों को देने का प्रावधान है जिससे भोजन की असुरक्षा के कारण भी बच्चे पढ़ाई से दूर न रहें। केंद्र सरकार और राज्य सरकारें स्कूली शिक्षा को अपनी प्रमुख जिम्मेदारी मानते

हैं। बालश्रम गैर-कानूनी है तथा अनेक राज्यों में उच्चशिक्षा भी लड़कियों को मुफ्त दी जाती है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़े वर्ग के बच्चों को शिक्षा में आरक्षण देने का भी प्रावधान है। भारत सरकार प्राथमिक शिक्षा के लिए लगभग 30 भारतीय भाषाओं और कुछ विदेशी भाषाओं के प्रयोग की अनुमति देती है। प्रौढ़ शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा को सतत प्रोत्साहन मिल रहा है। सभी सूचीबद्ध भाषाओं को बढ़ावा देने के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों में संवैधानिक रूप से गारंटी दी गई है। केंद्रीय भाषा संस्थान हाशिए पर छोड़ दी गई भाषाओं और अल्प भाषी भाषाओं में पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए लगातार प्रयासरत है। इन सभी प्रयासों के बावजूद अनेक हाशिए की भाषाओं और बहुत सी प्रमुख भाषाओं को बोलने वाले उन भाषाओं के सम्वर्धन के प्रति उदासीन दिखाई देते हैं। बहुत बड़ी संख्या में छात्र उन स्कूलों में जाते हैं जिनकी फीस बहुत ज्यादा है तथा वे अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्रदान करते हैं किंतु जिनकी विद्यालयी व्यवस्था लचर है। कुलमिलाकर स्कूली शिक्षा इस प्रकार से दी जाती है कि बच्चे उन उच्च शिक्षण संस्थानों में जाएँ जिनमें से ज्यादातर संस्थान इंजीनियरिंग या सूचना प्रौद्योगिकी तथा जनसंचार संस्थान हैं (देवी (Devy), 2009)। जब कोई बच्चा ऐसे स्कूल में पढ़ने जाता है जिसमें भारतीय भाषा में शिक्षा दी जाती है तो उस निर्णय को सामाजिक पिछड़ापन माना जाता है। इन परिस्थितियों में भाषाओं के संरक्षण का कार्य काफी मुश्किलों भरा है। खासतौर से उन भाषाओं का संरक्षण जिनको संरक्षित करने के लिए बहुत प्रयास करने जरूरी हैं। यह केवल संरचनागत परिवर्तन से सम्भव नहीं है। इस कारण भी भारत को भाषा-वन की गणना, संरक्षण और प्रोत्साहित करना जरूरी है जो हमारे पूर्वजों ने शताब्दियों के बौद्धिक प्रयासों और सांस्कृतिक निवेश से हमें प्रदान किया है। दूसरे शब्दों में, भारत में भाषिक अधिकार को जरूरी मानवाधिकार के रूप में रेखांकित करना इस समय की जरूरत है।

भाषा के बचाव या संरक्षण को प्राचीन स्तम्भों तथा ऐतिहासिक इमारतों के संरक्षण से पूर्णत: अलग समझना होगा। भाषा विज्ञान का हर विद्यार्थी जानता है कि भाषाएँ सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। भाषाएँ अन्य सभी सामाजिक विकास से भी प्रभावित होती हैं जो इससे सम्बन्धित होते हैं। सामाजिक व्यवस्था के रूप में भाषाएँ इस अर्थ में स्वायत्त हैं क्योंकि शब्दकोश और भाषाओं के व्याकरण तैयार किए जा सकते हैं, भाषाओं को लिपिबद्ध किया जा सकता है तथा उनकी वर्तनी व्यवस्था बनाई जा सकती है तथा उसकी मिमियोग्राफी (प्रिंटिंग पद्धति) की जा सकती है और उसकी टेप रिकॉर्डिंग की जा सकती है, इनके द्वारा उसका दस्तावेजीकरण सम्भव है। लेकिन भाषाएँ मानव चेतना से पूर्णत: स्वतन्त्र होकर अस्तित्व नहीं रख सकतीं। इसलिए कोई भी भाषा उन लोगों से पूर्णत: अलग नहीं की जा सकती जो उनका उपयोग करते हैं। इसलिए यह पूरी तरह तर्कसंगत होगा कि भाषिक संरक्षण समुदायों के संरक्षण से जुड़ा है। उन समुदायों का संरक्षण जो अपनी भाषाओं को चलन में लाते हैं।

जो समुदाय किसी भाषा का प्रयोग करता है उसकी सामूहिक चेतना तथा अपनी चेतना को व्यक्त करने के लिए वह जो भाषा प्रयोग करता है, ये दोनों ही तत्त्व उस समुदाय की 'विश्वदृष्टि' कहे जाते हैं (स्वीटसर एण्ड डेंसीजियर (Sweetser and Dancygier), 2012)। इस प्रकार, किसी भाषा के संरक्षण में उस भाषिक समुदाय की विश्व दृष्टि का सम्मान भी आवश्यक है। यदि वह समुदाय यह माने कि मनुष्य की नियति पृथ्वी के साथ जुड़ी है। पृथ्वी को नुकसान न पहुंचाएँ अन्यथा उन समुदायों की भाषा का संरक्षण नहीं किया जा सकता है अगर विकास के नाम पर हम पृथ्वी के संसाधनों को नष्ट करते रहें– इस परिकल्पना को स्वीकारें। ऐसी स्थिति में उस समुदाय के पास दो विकल्प होंगे – एक यह उस 'विकास' की अवधारणा को खारिज कर दे (सेन गुप्ता (Sengupta), 2010) जिसमें प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके उसे व्यावसायिक माल के उत्पादन के लिए तैयार करके मानव अधिकारों का दुरुपयोग किया जाता है अथवा अपनी ही विश्व दृष्टि को खारिज करेगा और वह उस भाषिक व्यवस्था से अलग होगा जो ऐसी विश्व दृष्टि का निर्माण करती है।

दुनिया भर में भाषाओं की स्थिति खतरनाक दौर से गुजर रही है। खासतौर से देशज नागरिकों की भाषाएँ, हाशिए के लोगों तथा अल्पसंख्यकों, समुदायों और संस्कृतियों की भाषाएँ जिन्होंने विदेशी संस्कृतियों का वर्चस्व झेला है या झेल रहे हैं। यह भाषिक संकट किसी एक या कुछ भाषाओं का, किसी एक या कुछेक देशों का नहीं अपितु यह वैश्विक संकट है। इस दौर में ही भाषिक समुदाय और प्रत्येक देश ने भाषिक विविधता के प्रश्न को गंभीरता से महसूस किया है जैसे उन्होंने जैविक विविधता, जलवायु परिवर्तन तथा ग्लोबल वार्मिंग के सवालों की गंभीरता को महसूस किया है (मैफी (Maffi), 2001)। फिर भी यह अति आशावाद होगा यदि हम यह मान लें कि यह कार्य सरकारी प्रयत्नों से ही पूरा किया जा सकेगा (ब्रैडले एण्ड ब्रैडले (Bradley and Bradley), 2002; ग्रेनेओबल एण्ड वैली (Greneoble and Whaley), 2006)। इस मिशन को स्वतन्त्र सरकारी एजेंसी के प्रयासों से, विभिन्न विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों तथा भाषा की अकादमियों, गैर सरकारी संगठनों, बुद्धिजीवियों, शोधार्थियों तथा सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं के संयुक्त प्रयासों से पूरा किया जा सकता है। पाठ्य पुस्तकों, शब्दकोशों, शब्दावली तथा व्याकरणों का निर्माण उन भाषाओं में करना जरूरी है जो पतनशील अवस्था में हैं। यह उपयोगी तो होगा भी, इसके साथ ही उनका दस्तावेजीकरण और अभिलेख निर्माण भी होगा। किंतु यदि भाषाओं को बचाना है तो उन भाषा-भाषी समुदायों को गरिमा तथा उचित सम्मान प्रदान करना होगा न कि नृतत्त्वशास्त्रीय ढंग से उनको 'अन्य' मान लिया जाए या उन्हें आखिरी पंक्ति का और अल्पविकसित समुदाय माना जाए। अपितु वे अपने वाजिब हक के अनुरूप महत्त्व पा सकें। किसी भाषा को जन्म देने में उस समुदाय को शताब्दियां लगती हैं। मानव जाति द्वारा निर्मित सभी भाषाएँ हमारी साझा सांस्कृतिक विरासत हैं। इसलिए यह हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है कि हम उनकी सुरक्षा करें तथा यह सुनिश्चित करें कि वर्तमान में हो रही भाषिक क्षति से उन्हें बचाया जा सके।

2 भाषा : वाक् एवं लेखन

जार्ज ग्रियर्सन एवं बोलियाँ

इसके पूर्व का भाषा सर्वेक्षण जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (George Abraham Grierson) ने किया था। जब ग्रियर्सन का ऐतिहासिक महत्त्व का भाषा सर्वेक्षण हुआ तब से नौ दशक से ज्यादा बीत गए। इस सर्वेक्षण को भारत में किसी भी सामाजिक-भाषिक विमर्श के लिए अपरिहार्य रूप से विचारणीय दस्तावेज कहा जा सकता है। किसी भी भारतीय भाषा-सर्वेक्षण की कठिन चुनौतियों को समझने के बाद मैं यह रेखांकित करना चाहता हूँ कि जार्ज ग्रियर्सन में सांस्कृतिक-मानचित्रांकन में होने वाली जटिलताओं को समझने की असाधारण प्रतिभा थी। ग्रियर्सन के 'सर्वेक्षण' को देखने का मेरा पहला अनुभव 1970 के दशक का है। इस ऐतिहासिक दस्तावेज को एक युवा पाठक के रूप में मैंने पढ़ा तो जो चीज मुझे आश्यर्चजनक लगी वह थी उनका भारत की भाषिक स्थितियों का विलक्षण ज्ञान तथा विभिन्न चुनौतियों के बीच कार्य करने की दृढ़ प्रतिज्ञा। कहने की जरूरत नहीं कि यह सभी पाठकों को प्रभावित करेगा। किन्तु उनके सर्वेक्षण में जो चीज खटकने वाली लगी वह थी कि कुछ बातों को लेकर मौन-सा था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में (यह ग्रियर्सन का ही दौर था) हम देखते हैं कि भाषाओं की धीरे-धीरे मृत्यु हो रही थी। 179 में से 165 भाषाएँ मीठा जहर खा रहीं थीं। उनके दस्तावेज में इसका उल्लेख नहीं है। (ग्रियर्सन (Grierson), 1903-1928)। मुझे नहीं मालूम है कि ग्रियर्सन और उनके पूर्ववर्ती विलियम जोन्स के भाषा सर्वेक्षण का कोई तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। जोन्स भाषा में 'विभिन्न' भाषाओं के होने से उत्साहित थे लेकिन उनके समय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी कि वे जान सकें कि भारत में उस समय कितनी भाषाएँ थीं। इसके विपरीत ग्रियर्सन के ब्यौरे में ऐसी कोई बात आश्चर्यजनक नहीं लगती। यदि हम ग्रियर्सन के सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डों को देखें तो हमें लगेगा कि उनमें जो क्षेत्रीय विशेषताएं हैं वे लोक कथाओं के कारण ही आकृष्ट करती हैं। ग्रियर्सन ने केवल 200 भाषाओं का विवरण

दिया है जबकि उन्हें 500 बोलियों का विवरण देना पड़ा। इस महान कार्य का अंकगणित उनके बुनियादी पक्षपात को दिखाता है। सम्भवतः इसकी शुरुआत विलियम जोन्स और उस पीढ़ी के अन्य विद्वानों ने कर दी थी। इन लोगों ने मिलकर ऐसी विचारधारा का निर्माण किया जिसके परिणामस्वरूप अब तक ओझल रही भारत की महान सभ्यता की खोज का आभास होने लगा।

हाशिए की आवाजें

भाषाओं की औपनिवेशिक काल के पहले जो समझ थी उसमें भाषा और बोली के बीच छोटी-बड़ी भाषा का भेद नहीं था। भाषिक विविधता जीवन का एक स्वीकार्य तत्त्व था। साहित्यिक प्रतिभाएं एक ही रचना में अनेक भाषाओं का प्रयोग कर लेती थीं और पाठक या श्रोता इसको सहजता से स्वीकार कर लेते थे। महाभारत जैसा विशिष्ट महाकाव्य विभिन्न रूपों और विभिन्न भाषाओं में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अपना अस्तित्व बनाए रहा (देशपाण्डे (Deshpande), 1978)। जब साहित्य के आलोचकों ने सिद्धान्त निरुपण किया तो उन्होंने विभिन्न भाषाओं के साहित्य को ध्यान में रखा। मातङ्ग की रचना *बृहददेशी*, मध्यकालीन शैलियों का सार-संग्रह आलोचना का ऐसा महत्त्वपूर्ण उदाहरण है जिसमें भाषिक विविधता को सामान्य और सहज रूप से स्वीकार किया गया है (जिआराजभोय (Jiarazbhoy), 1975)।

औपनिवेशिक काल में अनेक भारतीय भाषाओं की रचनाओं को मुद्रित किया गया। पहले लेखन तो होता था और विभिन्न लिपियों का प्रयोग होता था। यही नहीं, लिखित पाठ को पुनः प्रस्तुत करने के लिए कागज का भी प्रयोग होता था फिर भी लिखित रूप में आने के बावजूद साहित्यिक रचनाएं मुख्यतः मौखिक रूप से प्रचार-प्रसार पाती थीं। मुद्रण प्रौद्योगिकी ने प्रचलित मौखिक परम्परा को नष्ट कर दिया (देवी (Devy), 2009)। साहित्य की नई कसौटियां सामने आईं जिसमें लिखित साहित्य को मौखिक साहित्य पर अधिमान दिया जाने लगा जिससे उस अवधारणा को पुष्टि मिली कि लिखित साहित्य अनिवार्यतः एक भाषिक ही होना चाहिए। औपनिवेशिक काल में इस तरह के विचार और सत्ता संरचना से उसके तादात्म्य ने भारत में भाषाओं के भण्डार को प्रभावित करना शुरू कर दिया। जिन भाषाओं की मुद्रण प्रणाली तक पहुंच नहीं थी वे 'गौण' भाषाएँ समझी जाने लगीं।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय राज्यों का गठन भाषाओं के आधार पर भाषायी राज्यों के रूप में हुआ। यदि किसी भाषा की लिपि थी और उसका साहित्य छपा हुआ 'मुद्रित' था तो उसे भारतीय संघ व्यवस्था में राज्य का दर्जा एक भौगोलिक स्वरूप के साथ दे दिया गया। जिन भाषाओं का मुद्रित साहित्य नहीं था उनको इस तरह की हैसियत नहीं मिली चाहे उनके पास मौखिक रूप में विपुल साहित्य मौजूद था। इसके अतिरिक्त, उस राज्य में राज्य की राजभाषा को प्राइमरी और हाईस्कूल तक की शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इसी प्रकार, भारतीय संविधान में भाषाओं की एक विशेष अनुसूची (आठवीं अनुसूची) बनाई गई (ऑस्टिन (Austin), 2009)। शुरू में इसमें 14 भाषाएँ थीं। वर्तमान में इसमें 22 भाषाएँ हैं। सरकार की यह जिम्मेदारी है कि इन भाषाओं पर ही शिक्षा के सन्दर्भ में होने वाले खर्च को वहन करे।

1961 की भारत की जनगणना में 1652 मातृभाषाओं की सूची दी गई है। इसके बाद, 1971 की जनगणना में आंकड़े कम हो गए और उन 108 भाषाओं का ही उल्लेख किया गया जिन्हें दस हजार से ज्यादा लोग बोलते हैं। इस प्रकार, शेष 1544 मातृभाषाओं का उल्लेख नहीं हुआ था। इनमें से अधिकांश भाषाएँ घुमन्तू और देशज समुदायों के द्वारा बोली जाती हैं और जिनमें से अधिकांश वर्तमान में लुप्तप्रायः हो रही हैं, यदि पहले से ही मृत नहीं हो गईं हैं तो। भारतीय भाषाओं का जो स्वरूप निर्धारण हुआ है उसमें 'हाशिये' पर देशज लोग और घुमन्तू

जनजातियां हैं। यह मुख्यत: व्यवस्थित रूप से उन पर आरोपित 'वाचाघात' (aphasia) के कारण हुआ है। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण एक सामूहिक प्रयास है भारत के लोगों द्वारा अपनी भाषाओं को रेखांकित करने के लिए। यह ऐसा कोई प्रयास नहीं है कि ग्रियर्सन के सर्वेक्षण को दोहराया जाए, बदला जाए या उसका विकल्प दिया जाए। दोनों सर्वेक्षणों के मानदण्ड अलग-अलग हैं। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण एक अनौपचारिक प्रयास है दुनिया के सामने यह लाने का कि भारत में भाषिक विविधता प्रचुर मात्रा में है तथा दुनिया में जैविक-सांस्कृतिक विविधता को जीवित रखते हुए और साथ ही, लम्बे संघर्ष के बाद भारत ने जो लोकतन्त्र पाया है, उसको संरक्षित रखा जा सकता है।

जकड़ी हुई मौखिकता

विलियम जोन्स के समय से ही बड़े प्रयास इस बात को लेकर हुए कि भारत में जैविक विविधता तथा ज्ञान परम्परा को व्यक्त करने वाली प्रमुख संकल्पना को तैयार करें। उपनिवेशीकरण की इसी तरह की प्रक्रिया ने भी ज्ञान परम्परा और पश्चिमी आधुनिकता के सन्दर्भ में ज्ञान के औपनिवेशिक उत्पाद के बीच तुलना करने का प्रयास किया। भारत में इन दोनों के बीच भाईचारा और टकराव लगातार पश्चिमी संज्ञानात्मक ज्ञान तथा भारत की मौखिक परम्परा से जुड़े समुदायों की वर्चस्व शैली के बीच बन रहा है। ज्ञान की मुख्य संस्थाओं जैसे स्कूल, विश्वविद्यालय, अस्पताल तथा अदालतों को ऐसा रूप दे दिया गया है जिसमें प्राय: वे जटिलताएं नहीं होतीं जो 'भारतीय' उपमहाद्वीप की सभ्यता की महान उपलब्धि रही हैं (नन्दी (Nandy), 1987; देवी (Devy), 2009)। ऐसी स्थिति से जो बौद्धिक चुनौती मिली है उससे 21वीं शताब्दी के विचारकों को समझना होगा।

संज्ञानात्मक कोटियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कोटि जो सभ्यता के इस संक्रमण को लगातार झेल रही है वह भाषा की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति तथा भाषा का विवरण है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र तथा भारतीय भाषा विज्ञान का विउपनिवेशीकरण बिना किसी अस्पष्टता के अतीत की ओर ले जाने के लिए किया जाए, यह समकालीन भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। इस दौर में भाषा और मौखिक परम्परा के बीच सम्बन्ध को व्याख्यायित करने वाली श्रेणियों का प्रश्न उठाने की पहल की गई है (देवी 2006)। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का यही मुख्य मुद्दा रहा है। भाषा का विवरण देना भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का मुख्य उद्देश्य रहा है इसलिए उसने तय किया है कि ऐतिहासिक भाषा विज्ञान जिन प्रश्नों को उठाते हैं उनसे दूर रहा जाए, जैसे किसी भाषा की उत्पत्ति तथा उसका परिवार। भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण ने इसके बजाय एक न-ऐतिहासिक पद्धति अपनाई और यह प्रस्तुत किया कि 21वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में भाषा की क्या स्थिति है।

किसी एक भाषा परिवार में भाषा के स्थान को निर्धारित करने के सिद्धान्त के अतिरिक्त जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नियम जोन्स से लेकर ग्रियर्सन तक तथा उसके बाद भी जारी रहा, वह था भाषा और बोली का अन्तर। लगभग तीस वर्षों के चिंतन-मनन तथा अपने सहयोगियों और भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण के अपने सम्पादकीय टीम के साथ सामूहिक रूप से विचार करने के बाद मैंने यह निर्णय लिया कि किसी भी भाषा को बोली नहीं कहा जाए। यदि किसी भाषा के बोलने वाले अधिकांश लोग उसे भाषा मानते हैं बोली नहीं तो यह बेहतर होगा कि उसे भाषा माना जाए भले ही पारम्परिक भाषा वैज्ञानिक उसे अस्वीकार्य समझें। भाषा विज्ञान ने विगत दो शताब्दियों में अध्ययन के क्षेत्र में काफी प्रगति की है। फिर भी जटिल एवं अमूर्त संप्रेषण को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए मनुष्य द्वारा प्रयोग किए जाने वाले मौखिक संकेतों के व्यवहारों के रहस्यों को प्रकट करने में अभी भी उसे लम्बी यात्रा करनी बाकी है। बोलियों का प्रश्न भी अभी उनके बीच अनुत्तरित ही है।

भाषा एवं यथार्थ

मानव विकास की प्रक्रिया के भी कई रहस्य हैं। इस प्रक्रिया की हमारी अपर्याप्त समझ ही हमें अतिसाधारण वैज्ञानिक स्थापनाएं करने के लिए प्रेरित करती है। ये मान्यताएं ऐसी हैं कि इनके ठीक विपरीत मान्यताएं भी उचित प्रतीत होती हैं। सामाजिक संस्था के रूप में भाषा, उसकी उत्पत्ति की प्रकृति तथा उसकी संरचना की स्पष्ट चरणबद्ध प्रक्रिया मानव विकास की यात्रा के कुछ रहस्य हैं। (कॉर्बैलिस (Corballis), 2011; मैकमोहन एण्ड मैकमोहन (McMohan and McMohan), 2013)।

जब विश्व का निर्माण हुआ तो क्या कोई ध्वनि निकली थी? ध्वनि उसके पहले भी थी क्या, जब पशु आवाजें निकालने लगे? मूक ध्वनि-अनहत् ध्वनि तथा कण्ठ के द्वारा श्वास की प्रक्रिया को क्यों चुना। क्या इसे अर्थ के माध्यम से अथवा शरीर के संचलन से (जैसे मधुमक्खियों में होता है) भी उसी तरह अभिव्यक्त किया जा सकता था? मनुष्य ने उसी आत्मीयता से अन्य माध्यमों की खोज क्यों नहीं की? इन प्रश्नों का सैद्धान्तिक स्तर पर उत्तर दिया जा सकता है। किन्तु ये अन्तर दार्शनिक स्थापनाओं के स्तर पर सही नहीं पाए जा सकते। दार्शनिक स्थापनाएं सही होती हैं और पूर्णतः सही नहीं भी होती हैं।

कण्ठ के माध्यम से वायु का नियमन, बौद्धिक विकास के कुछ चरणों में, अर्थ के संप्रेषण का मुख्य तरीका था। इसके बाद अंक और अक्षर उच्च स्तर के संकेत-ध्वनि के चिह्न बन गए। तब लिखित भाषा पूर्णतः मौखिक भाषा को विस्थापित क्यों नहीं कर सकी?

भाषा अधिग्रहण का सिद्धान्त एक शिशु की संज्ञानात्मक संरचना में अन्तर्निहित मानकर स्थापित किया गया। तब ऐसा कोई सिद्धान्त क्यों नहीं स्थापित किया गया जो यह बताए कि लिपियों में प्रयुक्त संकेत, बोले जाने वाले अक्षर तथा वाक् ध्वनि अथवा फोन के बीच सम्वाद को ग्रहण करने की स्वाभाविक विशेषता होती है?

'अर्थ' के अन्तर्गत शामिल है– जो संकेतों, ध्वनियों तथा चिह्नों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है– इसके अतिरिक्त मौन, स्थिरता तथा रिक्त स्थान भी अर्थ निकलता है। इसलिए वास्तव में अर्थ के अन्तर्गत जो बात आती है उसे पूर्णतः स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। ज्यादा-से-ज्यादा अर्थ के सिद्धान्त दार्शनिक अनुमानों के स्तर पर हुए हैं। इसके अतिरिक्त, अब तक यह भी स्पष्ट रूप से स्थापित नहीं हो सका कि क्या अर्थ भाषा है? या क्या अर्थ भाषा के पहले अस्तित्व में आता है? और क्या यह कोई अन्य सामाजिक या तत्त्व मीमांसीय व्यवस्था है जो मौखिक भाषा से पूर्णतः स्वतन्त्र है? और इसकी सीमा का अतिक्रमण करती है। यह सही है कि 'भाषा' अनुप्रायोगिक अवधारणा के रूप में एक व्यक्ति की समझ के दायरे में ही आती है। किन्तु यह भी सही है कि शब्दों को समझने की किसी व्यक्ति की क्षमता मौखिक भाषा से ही अनुकूलित होती है। इसके कारण ही हम यह मानने के लिए विवश हैं कि भाषा एक सामाजिक संस्था है।

किन्तु क्या भाषा 'अर्थ' है या फिर यह कोई भौतिक 'पदार्थ' है? क्या यह अतीन्द्रिय ऊर्जा है अथवा यह पूर्णतः एक सामाजिक संस्था है? क्या यह महज एक जैविक कार्य है जो मनुष्य के शरीर और मन को विकास की प्रक्रिया में करने के लिए प्रदत्त है? अथवा क्या ये सभी एक स्तर पर भाषा की अवधारणा के विभिन्न 'आयाम' हैं? मानव विज्ञानों के सर्वाधिक विकसित होने के बावजूद भाषा विज्ञान को इन सभी प्रश्नों के पूर्णताः उत्तर अभी भी देने बाकी हैं?

एक स्थापित मान्यता है कि संस्कृति की और कोई अभिव्यक्ति नहीं सिर्फ भाषा ही है और दोनों (भाषा और संस्कृति) एक और एकमेव ही हैं। यह भी स्थापित है कि संज्ञानात्मकता भी भाषा के बिना असम्भव होगी। अर्थ के

विषय में भी यह मत है। दूसरे शब्दों में, 'भाषा' को मानव विवेक की अभिव्यक्ति की प्रत्येक बाह्य सीमाओं का निर्धारण करने वाले एक माध्यम के रूप में प्रयोग किया गया है। (कॉर्बैलिस (Corballis), 2011)

जब स्वप्न की संरचना भाषा पर आधारित नहीं है तब भी इसे भाषा संरचना के रूप में अवधारणात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाता है। सपनों की उत्पत्ति इसे याद रख पाने या स्मृति में बने रहने में है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि स्मृति भाषा के अभाव में पूर्णत: बनी नहीं रह सकती। इसी प्रकार, हम यह मानते हैं कि प्रेरणा, कल्पना और तर्क जैसी मानसिक विशेषताएं भाषा के अभाव में नहीं रह सकतीं।

यद्यपि, ये मान्यताएं अपरिहार्य प्रतीत होती हैं, फिर भी यह सही है कि 'मनुष्य' ये अनुभव दूसरे प्राणियों से साझा करता है तो उसमें भाषा का अभाव होता है और वह अर्थ को प्रकट करने के लिए ध्वनि पर निर्भर रहता है। शारीरिक सन्तुलन खोने का अनुभव, तथा शारीरिक आकर्षण इस प्रकार के अनुभवों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

दृश्य प्रपंचशास्त्र (Phenomenology) मानव समझ का एक विज्ञान है। इसकी मान्यता है कि मानव मस्तिष्क के द्वारा अधिग्रहित अवधारणा के सतत विकसित स्वरूप में भाषा का विकास होता है। इसके विपरीत, यह तर्क दिया गया कि दृश्यात्मक वास्तविकता को मानव द्वारा अर्जित करने में उसी प्रकार सम्वर्धन होता है जैसे जटिलताओं को समझने की भाषा की क्षमता होती है। तो यह सचमुच कठिन है, भाषा के दायरे से अनुभव का दायरा स्वतन्त्र हो। इसके साथ ही, यह और भी कठिन होगा कि हम अनुभव के दायरे को दरकिनार कर दें।

इसी प्रकार, इस प्रश्न का उत्तर देना भी कठिन है कि क्या अभिव्यक्ति के भाषिक अथवा अर्धभाषिक रूप–जैसे लिपि, व्याकरण और संस्कृति को भाषा या भाषाएँ मानते हैं या नहीं? ज्यादा–से–ज्यादा उन्हें हाशिए की सीमा में धकेल दिया जाता है और बोलियों तथा क्षेत्रीय भाषाओं की कोटि में शामिल कर लिया जाता है।

वस्तुत:, अर्थ के विस्तृत दायरे में ध्वनि के रूप में इसकी रहस्यमयी उत्पत्ति से लेकर 'मानव' देशकाल के माध्यम से व्यापक विस्तार तक – मनुष्य की भाषाओं को सर्वोत्तम रूप में अबाधित 'ध्वनि' की बोलियों के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार, अर्थ का पूरा दायरा जो पदार्थों और प्रतीकात्मक माध्यमों से अभिव्यक्त हो सकता है, ध्वनि–प्रतीक पर आधारित 'भाषा' को केवल बोलियों के एकरूप में ही गिना जाएगा।

यही नहीं, विश्व की गहरी समझ तथा सतत विकास की प्रक्रिया यह सम्भावना जताती है कि शायद हमारे विकास के वर्तमान स्तर पर भाषा को समग्र रूप में हम जितना जानते हैं वह मानव इन्द्रियों में उपलब्ध अनन्त सम्भावनाओं का एक छोटा सा हिस्सा है। इस प्रकार, भाषा को एक तरह से हमारी समग्र अनुभूतियों का एक हिस्सा या बोली माना जाएगा। इसके अतिरिक्त, शब्दों और लिपियों में जितनी मानव भाषाएँ मौजूद हैं उन्हें एक बोली ही माना जाएगा अर्थात् समग्र अनुभूति, अर्थ और ध्वनि का एकमात्र इयत्ता। इसलिए, बोली होना अर्थ की उत्क्रांति पिछले पायदान पर होना नहीं अपितु उसके अग्रणी होना है।

बोली की वास्तविक प्रकृति को समझा जा सकता है, यदि इसकी अवधारणा इस प्रकार हो कि यह एक अर्थ का अनिवार्य हिस्सा है न कि भाषा का क्षीण तत्त्व जिसकी नियति सतत विस्तृत यथार्थ का एक अव्यवस्थित रूप होना है जो अपनी विशिष्ट अवस्था में अर्थ के स्वच्छंद दायरे में चली जाती है। भाषाओं के इतिहास से पता चलता है कि वे बोलियों को आकर्षित करती रहीं हैं। बोलियों की नियति है, वे अर्थ की नई सम्भावनाओं की तलाश करें उन मानक भाषाओं से अपने रिश्ते खत्म किए बिना जिनके साथ सम्बन्ध स्थापित करना राजनीतिक और ऐतिहासिक रूप से उनके लिए बाध्यकारी रहा है। बोली की नियति उभयनिष्ठ मुद्रा बने रहना है। दुर्भाग्य से उसका मूल्य कमतर होता है।

यदि एक रूपक का प्रयोग करें तो बोली एक नवोदित ग्रह के परिवेश के पदार्थ के समान है जिस ग्रह को अभी भी विकास की चरम सीमा तक पहुंचना है। एक भाषा का ग्रह-परिवेश इसकी बोलियों के द्वारा समझा जाता है। इनके माध्यम से ही भाषाएँ अपनी बाहर की दुनिया से सहजता से सम्पर्क स्थापित कर पाती हैं। इसीलिए वे उनसे जुड़ी रहने में सक्षम होती हैं।

अभी तक यह माना जाता रहा है कि प्रभुत्वशाली वर्ग के द्वारा बोली जाने वाली भाषा ही मानक भाषा का दर्जा पा लेती है वहीं जिन भाषाओं को दबा दिया जाता है वे बोली बन जाती हैं। यह मत इंग्लैण्ड में अंग्रेजी के इतिहास पर आधारित है। इस तर्क के आधार पर कहें तो राजनीतिक वर्चस्वशाली भारतीयों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दी अब तक मानक भाषा बन जाती; तथा मराठा शासकों की भाषा मराठी मुख्य भाषा बन जाती। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। भारतीय अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि इंग्लैण्ड में अंग्रेजी का इतिहास सार्वभौमिक बोली विज्ञान को पर्याप्त वैज्ञानिक आधार नहीं प्रदान करता। इसके अतिरिक्त, उन संस्कृतियों में बोलियों के बारे में फिर से विचार करने की आवश्यकता है जहाँ राजनीतिक रूप में वर्चस्वशाली वर्ग प्राय: एक गैर-देशज भाषा बोलता है और जहाँ सांस्कृतिक रूप से वर्चस्वशाली वर्ग एकलभाषी नहीं रहा है।

यदि हम इस विवादास्पद मान्यता को दरकिनार कर दें कि भाषा मनुष्य की समझ के दायरे में सतत विकासमान अनुभव लोक को लाने का एक माध्यम है, तब हम यह मानेंगे कि बोलियां (या उपभाषाएँ) एक भाषा में अर्थ के विशालीकरण की प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका निभाती हैं। इस प्रक्रिया में यह आवश्यक हो जाता है कि नई सम्वेदनाओं तथा सर्वाधिक प्राचीन संस्कृतियों का सार्थक समन्वय हो। यह समन्वय करने के हेतु बोलियाँ अपने अस्तित्व और अस्मिता को दांव पर लगा देती हैं और उस भाषा में व्यापक सम्वेदनशीलता और अभिव्यक्ति कौशल ले आती हैं।

बोलियों के बगैर भाषाएँ अर्थहीन शब्द भण्डार बन जाएंगी। ऐसी स्थिति में शब्द व्यक्तित्वहीन प्रतीक बन जाएंगे। सम्भवत: ऐसी भाषाएँ पूर्ण अमूर्तन की सत्ता प्राप्त कर लेंगी जैसा गणित में होता है। किन्तु भाषिक बिम्ब जो इनमें होता है वह इतना अदृश्य हो जाएगा कि वे शायद प्रयोक्ता को पूर्णत: मानव चेतना से विमुख कर देगी। भाषा का एक व्यक्तित्व होना ही चाहिए। मनुष्य भाषा का उपहार तभी अधिक समय तक सम्वहन कर सकता है जब वह अपनी प्रयुक्त भाषा के साथ भावात्मक रूप से जुड़ा हो।

शताब्दियों तक यूरोपीय भाषा वैज्ञानिकों ने मूल भाषा अथवा सभी भाषाओं की मातृभाषा को खोजने के अनेक प्रयत्न किए (मैकमोहन एण्ड मैकमोहन, 2013)। इन प्रयत्नों के मूल में बैबेल के टावर का मिथक था जिसमें माना गया है कि एक भाषा असंख्य अनुकरणात्मक भाषाओं में बिखर गई। पतनशील बोलियों को 'शुद्ध' भाषा की पार्श्व भूमि या तलहटी समझा गया। ये तलहटियां वास्तव में उनके अस्तित्व और विकास की स्रोत रहीं हैं। बोलियां, उपभाषाएँ, भाषाओं की विविधता तथा पार्श्व की बोलियां ऐसी ऊर्जाएं हैं जिन्होंने भारतीय भाषाओं के प्रवाह को सतत रूप से बनाए रखा है। प्रवाह के रूपक को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि तथाकथित मुख्य भाषाएँ इसके किनारे हैं लेकिन बोलियां धारा का जल हैं। इस प्रवाह को हमें कम-से-कम बनाए रखना ही चाहिए।

लेखन और वाग्लोप

'लेखन' शब्द उन संकेतों का द्योतक है जो कागज अथवा कम्प्यूटर स्क्रीन पर कलम, पेंसिल या की बोर्ड के द्वारा कुछ तथ्यों, विचारों अथवा संदेशों के रूप में अंकित दिखाई देते हैं। किन्तु यह अलग-अलग स्थितियों में अलग-अलग ढंग से अंकित किया जा सकता है। मैं यहाँ उन कुछ प्रकार के 'लेखन' के बारे में बात करूंगा जिनके विषय में

मुझे तब पता चला जब मैं मौखिक परम्पराओं पर काम कर रहा था। मैं महाराष्ट्र में गोंधली समुदाय की भाषिक परम्परा का अध्ययन कर रहा था। इस समुदाय के पूर्वज शिवाजी और उनके उत्तराधिकारी राजाओं की फौज में सैनिकों के रूप में काम करते थे। अपने भाषिक कौशल का प्रदर्शन करते हुए यह समूह दो गुटों में बंट जाता है तथा वे 200-300 फुट की दूरी पर अलग होकर खड़े हो जाते हैं। जब मैं मराठी, गुजराती, अंग्रेजी या किसी अन्य भाषा में बोलता हूँ जिससे वे परिचित या अपरिचित हैं तो उनके समूह का एक सदस्य अपने हाथों से कुछ इशारे करता है और दूसरे समूह का एक सदस्य पूर्णतः स्पष्ट रूप से एक वाक्य बोलता है – चाहे वह व्यक्ति उस भाषा को पढ़े, बोले, समझे अथवा नहीं। मुझे आश्चर्य होता है कि इस संप्रेषण को लेखन क्यों नहीं कहा जा सकता है। इसका दूसरा उदाहरण, लक्षद्वीप की लोक परम्परा में मिलता है। यहाँ लोग पानी के जहाजों और नावों पर अपने स्थानीय इतिहास, कविताओं और रोजमर्रा के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर आधारित चित्र उकेरते हैं जिससे कि वे अपने जीवनानुभव को दृश्य रूप में ग्रहण कर सकें। भारत के मुख्य धारा के प्रदेशों में यातायात के साधनों पर होने वाली चित्रकारी से ये कहीं ज्यादा विस्तारित और महत्त्वपूर्ण हैं। ये नक्काशियाँ प्रायद्वीप के निवासियों के लिए पवित्र हैं। गुजरात की राठवा जनजाति तथा मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सों में दीवारों पर चित्रकला का काफी प्रचलन है। उनके घरों का आकार भारतीय जनगणना के औसत घरों के आकार से काफी बड़ा होता है। उनमें से कुछ चित्र तो 50 फुट लम्बे तथा 10 फुट चौड़े होते हैं। चित्रकारी सामूहिक रूप से की जाती है किन्तु इसका एक हिस्सा तो प्रमुख चित्रकार के लिए सुरक्षित रहता है। प्रमुख चित्रकार के लिए इस्तेमाल किया जानेवाला शब्द चित्रकार नहीं अपितु लखारा है अर्थात जो लिखता है।

जब मैंने पिठोरा पेंटिंग पर लिखना शुरू किया तो मैंने महसूस किया कि लखारा परम्परा और कथाओं का सृजन जिस तरह से वे करते हैं उस दृष्टि से लखारा शब्द का प्रयोग कोई आकस्मिक नहीं था। चित्रकला में केवल बिम्बों, आकारों और रंगों का प्रयोग नहीं होता अपितु उसमें नर्मदा के उत्तर और पंचमहल के दक्षिण के भू-भागों का मानचित्र भी बनाया जाता है। यद्यपि, इस दृष्टिकोण को न तो नृतत्त्वशास्त्रियों और न ही कला इतिहासकारों ने कभी अध्ययन का विषय बनाया। इस क्षेत्र की भौतिक संस्कृति के इतिहास में ऐसी पर्याप्त सामग्री है जिससे पता चलता है कि मध्यकाल की ये पेंटिंग आज के दौर के परमानेंट एकाउण्ट नम्बर के समान थीं। दीवार पर एक इलाके का नक्शा बनाकर राठवा जनजातियों ने राठवा राज्य में 'प्रमुख नागरिकता' हासिल कर ली। दीवार पर किया गया राठवा 'लेखन' भारत की परम्पराओं की अनेक पाण्डुलिपियों में से एक है। यह सामग्री की बाहरी सतह ही नहीं जिस पर भारतीय परम्परा की पाण्डुलिपियां मौजूद हैं अपितु कुछ पाण्डुलिपि परम्पराओं में मानव शरीर का भी प्रयोग किया गया है।

किन्तु इन सबके अलावा अन्य लेखन परम्पराएं भी स्वीकार्य हैं जैसे रेशम या दूसरे वस्त्रों पर, पत्तों पर या पेड़ के ऊपर (भोजपत्र पर) लिखना। आज भी भारत में पाण्डुलिपियों को तैयार करने की अनेक परम्पराएं हैं। यद्यपि, औपचारिक शिक्षण संस्थाओं की जरूरतों के अनुरूप इनमें से बहुत सी परम्पराएं नहीं हैं और वे या तो सिर्फ मौजूद हैं या तेजी से खत्म हो रही हैं। 13वीं शताब्दी में उत्तरी महाराष्ट्र के रहस्यवादी चक्रधर के अनुकर्ताओं द्वारा विकसित महानुभाव पुस्तकें कोडीकरण की प्रक्रिया में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सृजन के द्वारा पहुंचाई गईं थीं। एक तरह की पाण्डुलिपि परम्परा जो ओझल हो गई। अनेक प्रकार की लेखन पद्धतियां भारत की अशास्त्रीय परम्पराओं में मौजूद हैं (एसेंस्टेड, कहाने एण्ड शुल्मन (Eisenstadt, Kahane and Shulman), 1984)। जब भी सामाजिक या धार्मिक रूढ़िवाद को चुनौती देनी होती थी तो नई पाण्डुलिपि परम्पराओं या नई लिपियों को संघर्ष के उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया जाता था।

मौखिक एवं लिखित

हमारे साहित्यिक इतिहास में बहुत सा रचनात्मक कार्य मौखिक परम्परा में हुआ। यद्यपि, लिपियों की खोज हो चुकी थी किन्तु उन रचनाओं की अभिव्यक्ति के लिए लेखन का प्रयोग नहीं होता था। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि लिपियों का प्रयोग हड़प्पा संस्कृति के समय से ही हो रहा था, तथा प्राचीन तमिल एवं उत्तरवैदिक काल में लेखन हो रहा था। फिर भी ज्ञान, साहित्य तथा स्मृति लेखन के द्वारा नहीं अपितु मौखिक परम्पराओं में प्रचार-प्रसार पा रहे थे। भारत में मौखिक साहित्य के रूप में जो सामने आया वह केवल दीवारों, कपड़ों पर 'लेखन' और धार्मिक अनुष्ठानों में कुछ चित्रकारी नहीं थी अपितु पाठों का निर्माण, दस्तावेजीकरण या जिसे हम पाण्डुलिपि कहते हैं, उस रूप में इसे समझा जा सकता है। इसमें वाचन तर्क के साथ-साथ वर्तनी विज्ञान का भी पालन होता था। यहाँ लेखन को दरकिनार करने का कोई उद्देश्य नहीं है अपितु इतना ही उद्देश्य है कि भारत की भाषिक और सर्जनात्मक परम्पराओं में अलिखित को पाण्डुलिपि न मानना अनुचित होगा।

भारत में लेखन के बिना भी प्राचीन और मध्यकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं हुई हैं किन्तु यह सब कुछ उनकी स्मृतियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। औपनिवेशिक काल की स्कूली शिक्षण व्यवस्था में शिक्षक विद्यार्थी के सामने बैठता था। एक शब्द या एक वाक्यांश बोलता था और विद्यार्थी उसको पूरा करता था जैसा कि समस्या पूर्ति में होता है। यह एक मान्य प्रचलन था। कोई नवोन्मेषी लेखन नहीं अपितु दस्तावेज, पाठ, शैली तथा संकलन की सही समझ थी। इस प्रकार की स्कूली शिक्षा 13वीं शताब्दी में परिवर्तित हो गई जब भारत में कागज उपलब्ध हो गया। फिर भी मौखिक का स्थान पूरी तरह से या व्यापक रूप से लिखित ने नहीं लिया था। भारतीय ज्ञान संरचना में दोनों का सहअस्तित्व पारस्परिक सहयोगी के रूप में बना रहा। कहा जाता है कि तुकाराम की गाथा को उन आलोचकों ने इन्द्रायनी में तिरोहित कर दिया था जिन्होंने तुकाराम की मानवतावादी विचारधारा का विरोध किया था। पर ऐसा भी माना जाता है कि गाथा पुनः प्रकाश में आ गई। यह तो तय है कि तुकाराम ने लिखा था। तुकाराम से पहले एकनाथ ने ज्ञानेश्वर रचनाओं का एक संकलन तैयार किया। यद्यपि, लिपियों में रचनाओं को लिखने के साक्ष्य मौजूद हैं किन्तु पाठ का निर्माण मौखिक रूप से ही होता था। तब तुकाराम की 'गाथा' को लिखित रचना माना जाए या मौखिक रचना (चित्रे (Chitre), 1991)? इसी प्रकार, कबीर, मीरा और अन्य अनेक भक्तिकाल के कवियों की रचनाओं को मध्यकाल के पूरे दौर में लेखन या वाचन के रूप में ही पूर्णतः नहीं देखा जा सकता है। अपितु लेखन और वाचन एक-दूसरे के पूरक थे। कागज मिलने लगा तो विचारक लेखन के लिए कागज का प्रयोग करने लगे। इसके पहले पेड़ की छाल पर वे लिखते थे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी विद्यार्थी इसकी पाण्डुलिपियां बनाते थे और सैकड़ों साल बाद उनका नवीनीकरण हो जाता था। कुछ लोग उसका स्मरण कर लेते थे और मौखिक परम्परा में उसे आगे बढ़ाते थे। इस प्रकार पाण्डुलिपियां लिखित और मौखिक दोनों रूपों में मौजूद थीं और भारत में यह परम्परा शताब्दियों तक चलती रही। भारत में जब मुद्रण प्रौद्योगिकी आई तब यह न तो हर उस भाषा को उपलब्ध हुई जिसका व्यापक साहित्य था और न ही उन सभी भाषाओं तक पहुंच सकी जिसके बोलने वालों की संख्या अच्छी थी। यह केवल उन भाषाओं तक पहुंच सकी जिसके लोग नौकरशाह हो सकते थे और जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार के कार्यालयों में काम कर सकते थे। भारत में मुद्रण के लिए भाषाओं का चुनाव उन भाषाओं की साहित्यिक सम्पदा या गुणवत्ता के आधार पर नहीं किया गया अपितु प्रशासनिक सुविधा के आधार पर किया गया।

स्वतन्त्रता के बाद 'भाषायी राज्य' प्रशासनिक सुविधा के अनुसार बनाए गए। यद्यपि, वे वास्तव में भाषायी राज्य नहीं अपितु 'लिपि आधारित राज्य' थे जो इस आधार पर बनाए गए थे कि मुद्रण प्रौद्योगिक की दृष्टि से जिन भाषाओं में 'लेखन' हो रहा था उसे ही मानक माना गया। यदि इसे थोड़ी सहजता के लिए मान भी लें तो जनगणना की रिपोर्ट

लगातार यह बताती रही कि भारत में काफी संख्या में अन्य भाषा समुदाय भी हैं जिनकी जनसंख्या भी पर्याप्त है। सभी भारतीय भाषाओं में से केवल 22 भाषाओं को भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। इन भाषाओं में लिखित साहित्य भी है किन्तु एक सौ भाषाएँ ऐसी हैं जिनके बोलने वालों की संख्या दस हजार से अधिक है पर उनको अनुसूची में शामिल नहीं किया गया है क्योंकि मुद्रित रूप से उनका साहित्य उपलब्ध नहीं है।

उस सन्दर्भ में यह पूछना उचित होगा कि आखिर क्यों द्रविड़ और आर्य भाषा परिवार तीन हजार सालों के अन्तरंग सम्बन्धों के बावजूद एक भाषा परिवार में नहीं आ सके। इसका उत्तर इन 'अन्य' भाषाओं के अस्तित्त्व में मिलता है, इसके साथ ही उनकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति जो मध्य भारत में मौजूद है उसे भी इसका कारण समझा जा सकता है। मैं इन 'अन्य' भाषाओं को बोलने वाले समुदायों को 'आदिवासी' कहना चाहूंगा। बहुत सी आदिवासी भाषाओं की अपनी लिपियां नहीं हैं। गीतों, कहानियों, इतिहास और स्मृति की इनकी समृद्ध परम्परा है (देवी, 2003)। इनके ऐसे दस्तावेज मिलते हैं जो हाथ से तो नहीं लिखे गए अपितु कण्ठ परम्परा से जीवन्त हैं। इन भाषाओं की पहचान को रेखांकित न करके, इनके अस्तित्व को स्वीकार न करके हमने उनके ऊपर ऐसा कुछ थोप दिया है जिसे 'वाग्घात' कहते हैं और इन भाषाओं को हमने निर्वाक् कर दिया है। मनोविज्ञान में वाग्घात को अनेक अलग-अलग श्रेणियों में रखकर व्याख्यायित किया जाता है। गति नियंत्रण (motor system) में एक खास तरह का वाग्घात होता है जिसमें मस्तिष्क से जिह्वा तक अथवा जिह्वा से मस्तिष्क तक भाषिक संदेश संप्रेषित नहीं हो पाता है। दूसरा, वाग्घात वाणी के अंग के क्षतिग्रस्त होने के कारण होता है। अंतिम श्रेणी है, एक मनोवैज्ञानिक विकार जिसमें व्यक्ति शब्द से आशय को जोड़ने में सक्षम नहीं होता (देवी (Devy), 2006; एस्प एण्ड दे विलियर्स (Asp and De Villiers), 2010)। वाग्घात के इन रूपों का इलाज सम्भव है किन्तु एक अन्य तरह का वाग्घात हो सकता है जिसमें मस्तिष्क में, जिह्वा में या मनोविज्ञान में कुछ भी क्षति नहीं होती किन्तु किसी को बोलने ही नहीं दिया जाता। यह एक प्रकार का 'आरोपित वाग्घात' है जो भारत की बड़ी जनसंख्या की बोलियों को चुप करा देता है और 'असूचीबद्ध' जनजातीय भाषाओं को भी। वास्तव में, मौखिक परम्परा की ऐसी अनेक भाषाएँ मुख्य भाषाओं से इस तरह के आतन्क का सामना कर रही हैं जिन भाषाओं को राज्य का संरक्षण प्राप्त है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इस बात को रेखांकित करें कि भारतीय पाण्डुलिपि परम्पराएं केवल लिखित साहित्य की परम्पराएं नहीं हैं।

संस्कृत शब्द 'अक्षर' का अर्थ ही यह है कि 'ऐसा तत्त्व जो नष्ट नहीं होगा'। 'अक्षर' का अर्थ यह भी है कि वह सतत शाश्वत तथा जन्म और मरण की सीमाओं से परे है। भारत में मिथकीयता को विश्व के समग्र रूप में या ब्रह्माण्ड में ऐसे ग्रहण किया जाता है कि वह ध्वनि के द्वारा निर्मित है और अक्षर ध्वनि का अनश्वर पदार्थ है। जिस ऊर्जा ने विश्व का सृजन किया वह अक्षर है इसलिए यह नष्ट नहीं किया जा सकता। अब अक्षर या चरित्र सदैव अनिवार्यत: घुमन्तू तथा प्रवासी प्रवृत्ति के हैं और ऐसी भाषिक इकाइयां स्थिर और निश्चित स्थान पर सुपरिभाषित होने वाली हैं। यही कारण है कि सीमित संख्या में मौजूद अक्षर लाखों शब्दों अथवा एक भाषा को जन्म दे सकते हैं।

भारत में हमने घुमन्तू लोगों को देखा है क्योंकि औपनिवेशिक अंग्रेजी शासन ने घुमन्तू जातियों को मान्यता नहीं दी। औपनिवेशिक शासन ने घुमन्तू जातियों को आपराधिक जनजातियों के रूप में देखा। जो लोग सरकार को कर नहीं देते थे वे संदिग्ध माने जाते थे इसलिए अवांछित थे। शासित समुदाय को इस प्रकार पीड़ित करना कि वे 'नागरिक' बन जाएं, यह प्रवृत्ति दुनिया भर में सरकार का प्राथमिक लक्ष्य रहा है। इस 'सभ्य बनाने की प्रक्रिया' के मिशन के पीछे कारण नागरिकों को निश्चित पते दे देना है जिससे न केवल उनसे सम्पर्क किया जा सके अपितु उन पर नियंत्रण भी किया जा सके।

मनुष्य और अन्य प्राणियों में मुख्य अन्तर भाषा का है न कि लेखन का। यदि हम इसे अलग कर दें तो हम

मनुष्य के योगदान और मानवीयता को भी अलग कर देंगे। इसलिए हमेशा हम साहित्य, लेखन, दस्तावेज तथा पाण्डुलिपियों के बारे में सोचते हैं किन्तु हमें यह सोचना आवश्यक है कि हम इसलिए मनुष्य हैं क्योंकि हम बोलते हैं। प्रचलित मान्यता यह है कि लिपि विहीन भाषा एक बोली है- यह भाषाओं के इतिहास से निर्मित नहीं हुई। इन दोनों में तब कोई विरोध नहीं होगा जब यह माना जाएगा और लेखन इस तथ्य को स्वीकार करेगा कि ज्ञान के संसार में सभी भाषाओं की एक जगह है।

प्रदत्त भाषा और प्रदत्त बोली में कोई तार्किक असंगति नहीं है। सास्यूर के बाद (Post-Saussurean) के भाषाविदों की यह स्पष्ट मान्यता है कि भाषिक प्रतीकों को सीमेंटिक इकाइयों (Semantic Units) में मिलाने की प्रक्रिया एक समुदाय के लोगों द्वारा करवाना अपने आप में यादृच्छिक है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के चिंतन पर सास्यूर के विचारों का प्रभाव इतना प्रबल है कि इस मत को तब तक वैधता मिलती रहेगी जब तक ऐसा कोई तकनीकी उपकरण नहीं तैयार हो जाता जो डिजिटल तथा मल्टी मीडिया के बिंबों द्वारा सभी मानव ध्वनियों के आंकड़े नहीं एकत्र कर लेता और ध्वनि तथा अर्थ के बीच सभी सम्भावित रिश्तों की संरचना तैयार नहीं कर लेता। होमो सेपीयन (Homo Sapiens) सांस्कृतिक विकास के साथ अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण बात होगी जब मनुष्य की भाषा को इसके किसी भी प्रकार के समुदाय के साथ 'जोड़कर नहीं' देखा जाएगा। अभी तो प्रश्न यह है कि विभिन्न भाषा समुदाय क्यों लिपियों के रूप में अपनी वाणी (भाषा) का प्रतिनिधित्व व्यक्त करते हैं। क्या यह सब कुछ इतिहास में आकस्मिक हुआ या किसी भाषिक समुदाय के सौन्दर्य की प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता है?

भारत में विभिन्न समय पर हुए लिपियों के विकास के इतिहास के आधार पर निम्नलिखित सूची तैयार की गई है जिनमें अधिकांश (सभी नहीं) ब्राह्मी लिपि से उत्पन्न हुईं तथा अनेक का प्रयोग इस समय में भी हो रहा है।

> अहोम, बाल्टी (अब उसे अरबी-फारसी लिपि ने विस्थापित कर दिया है) बांग्ला, भुजिमोल, चकमा, देवनागरी, धीमल, धिवेही, धीवेस अकुरू, डोगरा अक्कखर, गोलमोल, गोण्डी, ग्रांथम, गुजराती-देवनागरी, गुरुमुखी, गुरुंग, हो, केथी (एक समय यह बिहार की राजकीय लिपि थी जो उर्दू, भोजपुरी, मगही तथा मैथिली लिखने में प्रयुक्त होती थी) कन्नड़, खोजकी (मेमोनी व्यापारियों द्वारा हाल के वर्षों तक गुजरात में इस्तेमाल की जाती थी, अब गुजराती का प्रयोग होता है) खुदावर्दी, कुरुख, लहंदा या क्लिप अक्षरों के साथ, पंजाबी तथा सिंधी व्यापारियों के द्वारा प्रयुक्त) लेपचा, लिम्बू, महाजनी (राजस्थानी में लेनदेन, डायरी तथा बही खाते को दर्ज करने के लिए इस्तेमाल की जाती है) मलयालम, मराठी-देवनागरी अथवा बाल्बोध, मीतेई मयक, मिथिलाक्षर (मैथिल ब्राहमणों द्वारा मैथिल लिखने के लिए इस्तेमाल की जाती है) मोडी, ओलचिकी, पश्तो, फारसी-अरबी (अनेक रूपों में, हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, सिंधी, बांग्ला, बाल्टी, पश्तो, मारवाड़ी तथा बलोची के लिए इस्तेमाल की जाती है) प्रचलित लिपि, रंजना, शारदा (कभी कश्मीरी पण्डितों के द्वारा धार्मिक साहित्य लिखने के लिए इस्तेमाल की जाती थी, बाद में देवनागरी का प्रयोग होने लगा) शाहमुखी, सिंधी, सिंहला, सुनुवार, साइलोती नागरी, टंकरी (जम्मू, किश्तवार, हिमाचल प्रदेश तथा जौंसार-बवर में पहाड़ी भाषाओं को लिखने के लिए इस्तेमाल की जाती है) तमिल, तानी, तेलुगु, तुलु (पहले तुलु भाषा के लिए प्रयुक्त होती थी अब कन्नड़ का प्रयोग होता है) उर्दू, जोऊ।

यदि हम इन सभी के उदय को आर्थिक और राजनीतिक सन्दर्भ में देखने का प्रयास करें तो यह अनुचित होगा। फिर भी इनमें से प्रत्येक के विशिष्ट इतिहास को ध्यान में रखते हुए मैं तर्क देना चाहूँगा कि किसी लिपि का विकास समाज में उपलब्ध संसाधनों के बही खाते पर नहीं होता, अपितु इस प्रकार के संसाधनों के अर्जन और

उसके सम्वर्धन से होता है। कोई लिपि तब शुरू होती है जब समाज के जीवन में कोई सार्थक उत्पत्ति का खालीपन आता है। अपने आरंभिक विकास के रूप में लिपियां मुख्यतः बोलने के बजाय रचना की व्यवस्था से जुड़ी हैं। जब चारागाही या कृषि अर्थव्यवस्था का सबसे पहला अतिरिक्त लाभांश आया और उसे श्रम के लिए दिया जाना था तब जिस समुदाय ने सौदेबाजी की उसे निवेश किए गए अतिरिक्त लाभांश की मात्रा का निर्धारण करना था। इस प्रकार, किसी लिपि के विकास की मुख्य विशेषताएं अपने मूलांक के रूप में संख्यात्मक हैं। अंकों को चट्टानों अथवा लकड़ी पर अथवा रेत पर लिखने की प्रथा भारत में रही है। बच्चों को स्कूल में पहली में मिट्‌टी पर लिखना सिखाया जाता था। (भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण में हमने अनुसूचित भाषाओं के सन्दर्भ में लेखन/लिपि की आरम्भिक जानकारी देने का प्रयास किया है) किन्तु इनमें से कुछ संख्याएं उस तरह से नहीं सफल होतीं जिनमें लिपि बनने की विशेषताएं हैं। उदाहरण के लिए, अभी भी टिक मार्क और क्रॉस का उपयोग करते हैं तथा टिक मार्क किसी भी लिपि में नहीं दिखता, यद्यपि, यह व्यापक रूप से माना जाता है कि 'हाँ' का द्योतक है 'नहीं' के विपरीत, जो अनुपस्थिति के विपरीत उपस्थिति का सूचक है।

बहुत से ऐसे संकेत लिपि व्यवस्था में आ जाते हैं किन्तु आरम्भिक तौर पर वे मात्रात्मक संकेत हैं जो एक तरह से संख्याबद्ध करने होते हैं। हर भाषा समुदाय की विशिष्ट विश्व दृष्टि (world view) होती है इसलिए इसकी दुनिया को समझने-मापने का अपना खास तरीका होता है। ऐसे समुदाय हैं जो खास तौर से पूर्वोत्तर और पश्चिमोत्तर में अन्तर नहीं करते न ही दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम में कोई अन्तर करते हैं। इन समुदायों में तीक्ष्ण सूर्य और मन्द सूर्य में किसी प्रकार के फर्क का दृष्टिकोण नहीं होता। न ही आग्नेय और ईशान्य (north-east), वायव्य और नैऋत्य (south-west) में जिसे अधिकांश भारतीय आर्य भाषाओं में देखा जा सकता है। यही नहीं, ऐसे समुदाय भी हैं जो चार दिशाओं - पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के बारे में सोचते हैं जबकि अन्य समुदाय आठ दिशाओं के बारे में और कुछ जगहों पर तो दस दिशाओं के बारे में विचार किया जाता है। (भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (PLSI) में हमने प्रत्येक भाषा में स्थान और दिशा के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों का विवरण दिया है।) इसके कारणों को समुदाय की समझ में देखा जा सकता है जो सतह, दिशा, बिम्बों की पहचान पर निर्भर करती है जो जगह-जगह पर बदलती दृश्यता, क्षेत्र के प्रकाश, अथवा परिवेश की बनावट से जुड़ी है, जिससे कोई समुदाय अपने भौतिक-सांस्कृतिक इतिहास से लम्बे समय से गुजर रहा होता है। गणना पद्धति भी जगह-जगह पर बदलती रहती है तथा समुदाय के लोग जिस अंदाज में बोलने लगते हैं उस पर भी यह आधारित होती है। इस प्रकार मोडी - एक लिपि के रूप में कुछ क्षेत्रों में भौगोलिक और आर्थिक विवरण दर्ज करने के लिए प्रयुक्त की जाती थी - जैसा कि आजकल *टैली* साफ्टवेयर को 'लेखन' के रूप में इस्तेमाल किया जाता है किन्तु यह केवल बही खाता ही दर्ज करता है। इस मोडी लिपि की एक समय माँग व्यापक स्तर पर हो गई। जैसा कि हम जानते हैं कि लेखन का विकास आज विभिन्न ज्यामितीय रूपों के आधार पर गणनात्मक प्रतीकों के समन्वय से हुआ है। मूलांक लिपि बनाने के लिए तीन या चार ज्यामितीय तरीके हैं। इनको मुख्यतः 'स्वर' कहा जाता है जब वे लिपि का दर्जा पा लेते हैं। दूसरे शब्दों में, प्राथमिक रूप से यह पारिस्थितिकीय संरचना है जो किसी भाषा के मूल शब्द भण्डार को निर्धारित करती है जबकि आर्थिक सन्दर्भ ही यह निर्धारित करता है कि कैसे और कब यह लेखन में आ जाएगा। इस तथ्य के बावजूद कि भाषा में लेखन का प्रमुख महत्त्व नहीं होता यह बात भाषा निर्माताओं के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तब से हो गयी जब से मुद्रण प्रौद्योगिकी भाषा के विस्तार का प्रमुख माध्यम बन गया।

राज्यों का गठन और भाषा की अस्मिता

भाषाओं के मुद्रित होने के आधार पर उनकी श्रेष्ठता का निर्धारण किए जाने के पहले भाषाएँ लिखी जाती थीं किन्तु

मुद्रित नहीं होती थीं, केवल बोली जाती थीं; भारतीय राज्य शायद ही कभी ''भाषिक राज्य'' रहे होंगे, मुख्यत: वे तो बहुभाषिक होते थे। इसलिए जब भारत में राष्ट्रवाद की भावना विकसित होने लगी तब किसी भी भारतीय राष्ट्रवादी के मन में एक भाषा को राष्ट्र की शीर्षस्थ भाषा के रूप में प्रस्तुत करने का विचार नहीं आया, जबकि उनके अनेक वैचारिक मतभेद भी थे। उनकी दृष्टि में भारत पहले से ही एक राष्ट्र था जिसमें अनेक भाषाएँ थीं। 1946 से 1949 तक संविधान सभा की लम्बी बहस इस बात का प्रमाण है कि संविधान सभा के सदस्य आम तौर से भारत को बहुभाषीय राष्ट्र के रूप में देखते थे। यद्यपि, संविधान सभा में अनेक भाषाओं के अन्तर्विरोधों को सुलझाना था जिसे इस सभा ने ग्रियर्सन के सर्वेक्षण से समझा था तथा जिसके लिए एक राष्ट्रीय स्तर पर संप्रेषणीय भाषा की आवश्यकता थी। इस सन्दर्भ में संविधान सभा की बहस समुचित रूप से किसी अंतिम निष्कर्ष पर नहीं पहुंची थी जिसके परिणामस्वरूप भाषाओं के लिए एक विशेष अनुसूची–आठवीं अनुसूची संविधान में रखनी पड़ी। (सारंगी (Sarangi), 2009)। स्वतन्त्र भारत की पीढ़ियां प्राय: मानती हैं कि आठवीं अनुसूची ने भारतीय राज्यों को भाषायी राज्य बनाने की दिशा में योगदान किया। इस आम धारणा का भारत में भाषायी राज्य के किए गए गठन के इतिहास से कोई खास संबंध नहीं है।

तत्कालीन गृह सचिव हरबर्ट रिस्ले ने 1903 में बंगाल सरकार को पत्र लिखा जिसमें भाषा को विभाजनकारी सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया। इसके परिणामस्वरूप 1905 में बंगाल का पूर्वी बंगाल और पश्चिम बंगाल के रूप में विभाजन किया गया। जब 1917 में कांग्रेस के अधिवेशन में भाषा को राज्यों के विभाजक रेखा के रूप में प्रस्तुत किया गया तो एनी बेसेण्ट ने इसका दृढ़ता से विरोध किया। एक दशक बाद 1927 में नागपुर के अधिवेशन में कांग्रेस ने राज्यों के भाषायी आधार पर बंटवारे के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। स्वतन्त्रता के बाद जवाहरलाल नेहरु ने इस सिद्धान्त को कार्यान्वित किया और 1948 में भाषायी राज्य आयोग का गठन कर दिया गया। वे इस बात के लिए सचेत हो गए कि भाषा भारत की एकता के लिए खतरा बन सकती है। 1950 के दशक के आरम्भिक वर्षों में आन्ध्र प्रदेश ऐसा पहला भाषायी राज्य बना जो हिंसक विद्रोह के परिणामस्वरूप बनाया गया था। 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की गई। यद्यपि, दो वर्षों बाद भी, नेहरु यह समझने का प्रयास कर रहे थे कि सोवियत संघ का गठन कैसे हुआ और इसलिए उन्होंने एस.जी. बर्वे को सोवियत संघ में रूसी अनुभव को जानने और उसका अध्ययन करने के लिए रूस भेजा। उसी वर्ष, सोवियत रूस के अनुभव के आधार पर 14 राज्यों और 9 संघशासित क्षेत्रों का गठन हुआ। 1960 के दशक में सन्त फतेह सिंह और मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में हुए भाषायी आन्दोलन के आधार पर पंजाब का गठन हुआ। 1970 के दशक में पूर्वोत्तर के राज्यों का गठन हुआ। भाषाओं को राज्यों के गठन का केन्द्रीय आधार मानकर छोटे-छोटे राज्यों के गठन की प्रक्रिया स्वतन्त्रता के बाद निरंतर चलती रही है। इसका सबसे ताजा उदाहरण, अलग राज्य तेलंगाना बनाने की प्रक्रिया रही है। इसके साथ ही, विदर्भ को अलग राज्य बनाने तथा उत्तर प्रदेश को चार राज्यों में विभाजित करने की मांग भी चलती रही है। यह पूरी प्रक्रिया इस बात का स्पष्ट संकेत है कि यद्यपि, भारत में 19वीं शताब्दी में स्वतन्त्रता संग्राम के मूल आधार राष्ट्रवाद को स्वीकार कर लिया था किन्तु उसने ऐसा यह मानकर नहीं किया कि भारत एक भाषा का राज्य होगा; संविधान सभा की बहसों में भी 'भाषिक बहुलता वाले राष्ट्र' की अवधारणा भारत के सन्दर्भ में देखी गई तथा भाषिक अस्मिता ने राज्यों के पुनर्गठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई (शेवट्र्सबर्ग (Schwartzberg), 2009)। इस प्रक्रिया में एक लचर तर्क यह था कि ऐसी प्रत्येक भाषा जिसकी एक लिपि हो और जिसने मुद्रण प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया हो और इसके कारण अपने कुछ साहित्य को मुद्रित कर लिया हो उसे अपनी अस्मिता को मुखर करना होगा। बहुभाषाओं वाले देश से अलग राज्य की मांग कर सम्भवत: यह अवधारणा तब तक राजनीतिक प्रभाव और जानान्दोलन को उभार देती

रहेगी जब तक हम यह नहीं समझेंगे कि लेखन के आधार पर भाषाओं की श्रेष्ठता का क्रम-निर्धारण कर मौखिक भाषा से श्रेष्ठतर मानना न तो भाषिक रूप से तर्क संगत है न ही ऐतिहासिक रूप से तर्कसंगत है। इसलिए मैंने दृढ़ता से यह माना कि भारतीय भाषाओं और उनके सामाजिक विवरण पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है जिसमें सरकारी तन्त्र का इस्तेमाल नहीं होगा बल्कि देश के लोगों की भागीदारी जरूरी है। यह भारत के भाषायी विद्रूपण को परिवर्तित करने के लिए आवश्यक है, यदि ज्ञान के विउपनिवेशीकरण और आत्म का पुनरोत्थान है। यह भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण को क्रियान्वित करने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण रहा है।

3 लोक भाषा सर्वेक्षण क्या है?

लोक भाषा सर्वेक्षण क्या है?

लोक भाषा सर्वेक्षण देश भर में भारतीय भाषाओं के उस रूप में सर्वेक्षण कराने के अधिकार पर आधारित आन्दोलन है जिस रूप में लोग उन भाषाओं के विषय में समझ रखते हैं तथा उन भाषाओं को रेखांकित करता, उनका दस्तावेजीकरण करता और उन्हें प्रस्तुत करता है, खास तौर से बिखरे हुए समुदायों की भाषाओं को जैसे घुमन्तू, समुद्रतटीय, प्रायद्वीपीय, पहाड़ी और जंगलों में रहने वाले लोगों की भाषाओं को।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (PLSI) एक त्वरित, श्रेष्ठता क्रमविहीन, जन परामर्श और अनुशंसा है जिसका उद्देश्य विकास के सांस्कृतिक प्रभाव में सहायता करना तथा सभी, खास तौर से भारत में लुप्तप्राय: हो रहे मौखिक सम्वाद वाले, समुदायों के आत्म-सम्मान तथा अस्मिता बोध को स्वीकार करना है।

विभिन्न भाषी समुदायों के सदस्यों के साथ विद्वानों, लेखकों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं के द्वारा किया कार्य है -भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण जार्ज ग्रियर्सन के 'भारत भाषा' सर्वेक्षण की पुनरावृत्ति, विकल्प, विस्थापन अथवा उसकी अगली कड़ी नहीं है। यह एक सामान्य सर्वेक्षण या जनसंख्या सर्वेक्षण का एक हिस्सा, जिसका उद्देश्य भारत में अस्तित्व मान प्रत्येक भाषा का विस्तृत सर्वेक्षण अथवा मानकीकरण का एक प्रयास या लेखन का निर्धारण अथवा भारतीय भाषाओं के लोगों की भाषाओं का निर्धारण करना है।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (PLSI) का मुख्य उद्देश्य है–

- 2011 में जनता के द्वारा अभिकल्पित भारत की जीवित भाषाओं का सिंहावलोकन।
- वैकल्पिक विकास के लिए प्रतिबद्ध लोगों का एक सक्रिय नेटवर्क बनाना, इसके साथ ही विविध सामाजिक एवं सांस्कृतिक वर्गों से जीवन सम्वर्धक ज्ञान व्यवस्थाओं और परम्पराओं के सामुदायिक संरक्षकों को एकजुट करना।
- वाग्समूहों द्वारा शताब्दियों से पोषित भाषिक, सांस्कृतिक तथा जैविक विविधताओं को नष्ट होने से बचाना।
- भारतीय समाज में सांस्कृतिक विविधता तथा बहुभाषिकता के ढांचे को मजबूत करने की दृष्टि से तथा सामाजिक, भाषिक एवं सांस्कृतिक देश के रूप में भारत के निर्माण की प्रक्रिया की दृष्टि से विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच सेतु निर्माण करना।
- सरकार तथा भाषायी समुदायों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा विविध पारिस्थितिकीय एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों के साथ सौहार्द स्थापित करने के लिए सार्वभौमिक विकास की सरकार की रणनीतियों में सहयोग करना।
- शिक्षण सामग्री का निर्माण करना तथा मातृभाषाओं में शिक्षा की क्षमता को प्रोत्साहित करना।
- भारत में भाषिक और सांस्कृतिक धरोहर के लिए होने वाले किसी भी भावी सर्वेक्षण का आधारभूत ढांचा तैयार करना।
- मानव सुरक्षा तथा जीवन के हित में दुनिया में भाषिक विविधता के एक अन्तिम बचे हुए दुर्ग को संरक्षण देना।
- विभिन्न राजनीतिक सीमाओं की भाषाओं में उपलब्ध संज्ञानात्मक श्रेणियों को पारिस्थितिकीय सीमाओं के अनुरूप पुनः खोजना तथा उनकी जड़ों तक फिर से जाना जिससे कि वैयक्तिक बौद्धिक सम्पदा अधिकार (IIPR) संरक्षण के विपरीत सामुदायिक बौद्धिक सम्पदा संरक्षण (CIPR) को सुरक्षित किया जा सके।

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का गठन

अगर मैंने 1970 के दशक में भारत के भाषायी सर्वेक्षण का कार्य हाथ में लिया होता जब मैंने सबसे पहले ध्यान दिया कि भारत की जनगणना में दिए गए आंकड़ों से 1500 मातृभाषाओं के नाम सूची से बाहर कर दिए गए थे, तब मैंने लगभग 3000 पृष्ठों की पुस्तक की कल्पना की होती जिसमें हर भाषा पर दो पृष्ठ दिए गए होते। तब सूची से बाहर कर दी गई अर्थात् छोटी भाषाओं के विषय में मेरी जानकारी इतनी कम थी कि मैंने सोचा होता कि अधिकतम दो पृष्ठों में उनकी पर्याप्त जानकारी दी जा सकती है। तब आठवीं अनुसूची में 18 भाषाएँ थीं और यह संख्या भी मुझे ज्यादा लगती।

जब मैंने पश्चिमी भारत में आदिवासियों के साथ काम करना शुरू किया और खास तौर से तब से जब *ढाल* पत्रिका 1997 में प्रकाशित होने लगी, उसके बाद से मैं इस बात से सहमत हो गया कि जनजातियों और घुमन्तू समुदायों की अनेक भाषाएँ और उनकी साहित्यिक समृद्धि इतनी अधिक है कि उन्हें पुस्तकों और पत्रिकाओं में छापा जाना चाहिए। *ढाल* पत्रिका शुरू में चार आदिवासी भाषाओं में प्रकाशित हुई और धीरे-धीरे वह दस भाषाओं में प्रकाशित हुई– कुन्क्ना, चौधरी, देहवाली, पावरी, पंचमहाली भीली, राठवी, गोर बंजारा, भान्तू, अहिरानी तथा डूंगरी भीली। 2002 तक मैं इसे देश की लगभग 80 ऐसी भाषाओं में समाविष्ट करने के लिए तैयार हो गया था। मुझे याद

है कि इसके लिए मैंने एक बड़ा सम्मेलन किया था जिसमें मध्य और पश्चिमी भारत के राज्यों उड़ीसा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा राजस्थान के विभिन्न आदिवासी भाषाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। यद्यपि, मुझे यह योजना स्थगित करनी पड़ी क्योंकि बड़ौदा में *ढोल* पत्रिका के दस संस्करणों को जो प्रेस छाप रहा था उसने कहा कि इतने बड़े परिमाण में वह काम नहीं कर पाएगा। इसके अतिरिक्त, गुजरात में तब ऐसी परेशान करने वाली स्थितियां थीं जिससे मेरे भाषिक विविधता को प्रोत्साहित करने वाले एजेण्डे में कई कठिनाइयां उत्पन्न हुईं (देवी (Devy), 2006)।

2003 में मैंने गुजरात के सामाजिक हालात की चुनौतियों को अपने ढंग से सुलझाने के तरीके से *बोल* पत्रिका के प्रकाशन का मन बनाया जो गुजराती में छपे किन्तु आदिवासी भाषाओं की कहानियां और गीत छापे। इसे एक बाल पत्रिका के रूप में प्रकाशित किया गया और इसको अपार सफलता मिली। थोड़े ही समय में कोई 7000 स्कूलों में यह पत्रिका खरीदी जाने लगी, इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत ग्राहकों की उतनी ही उत्साहवर्धक संख्या थी। इसलिए मैंने यह तय किया कि *ढोल* पत्रिका के दस भाषाओं में प्रकाशन को बन्द कर दिया जाए और *बोल* पत्रिका पर ध्यान केन्द्रित किया जाए जिसके अपेक्षाकृत बाल आयु के पाठक ज्यादा हैं। यदि मुझे भाषा सर्वेक्षण 2003 में शुरू करना होता तो सम्भवत: मैं भाषाओं की लोकगाथाओं पर ही पूर्णत: ध्यान देता। समय के साथ-साथ मेरे विचार भी बदल गए और मैंने 2010 में भारत भाषा लोक सर्वेक्षण करने का प्रस्ताव रखा। मार्च 2010 में विभिन्न खण्डों में सर्वेक्षण के लिए सामग्री एकत्र करने की योजना घोषित की। राष्ट्रीय सम्पादकीय समूह (NEC) के लिए आमन्त्रित साथियों के बीच (PLSI) खण्डों की जो सूची साझा की गई वह निम्न प्रकार से थी-

खण्ड-एक (हिन्दी एवं अंग्रेजी)

PLSI का परिचय, दृष्टिकोण, अवधारणा का विकास, भारत में भाषा सर्वेक्षण का इतिहास, PLSI का उद्देश्य एवं क्षेत्र, सहयोगी, खण्ड योजना

खण्ड एक (हिन्दी) - पश्चिमी हिमालय का भाषा वैविध्य - हिमाचल प्रदेश

खण्ड दो (हिन्दी) - पश्चिमी हिमालय का भाषा वैविध्य - उत्तराखण्ड

खण्ड तीन (हिन्दी) - पश्चिमी हिमालय का भाषा वैविध्य - जम्मू एवं कश्मीर

खण्ड चार (अंग्रेजी) - हिमालय की भाषाएँ - पश्चिमी राज्य

खण्ड-दो (अंग्रेजी-हिन्दी)

भाग एक (अंग्रेजी) - पूर्वी हिमालय राज्यों की भाषाएँ - सिक्किम एवं अरुणाचल प्रदेश

भाग दो (अंग्रेजी) - पूर्वी हिमालय राज्यों की भाषाएँ - मेघालय एवं उत्तर बंगाल

भाग तीन (हिन्दी) - पूर्वी हिमालय का भाषा वैविध्य - अनुभाग-एक

भाग चार (हिन्दी) - पूर्वी हिमालय का भाषा वैविध्य - अनुभाग-दो

खण्ड-तीन (असमी एवं अंग्रेजी)

भाग एक (असमी) - असमिया भाषा विविधता

भाग दो (अंग्रेजी) - पूर्वोत्तर राज्यों की भाषाएँ

भाग तीन (अंग्रेजी) - पूर्वोत्तर राज्यों की भाषाएँ

खण्ड-चार (बांग्ला, उड़िया, अंग्रेजी)

भाग एक (बांग्ला) - बंगाल की भाषा समृद्धि

भाग दो (उड़िया) - ओडिशारा भाषा समूह

भाग तीन (अंग्रेजी) - बंगाल और ओडिशा की भाषाएँ

खण्ड-पांच (हिन्दी और अंग्रेजी)

भाग एक (हिन्दी) - झारखण्ड की भाषा विविधता

भाग दो (अंग्रेजी) - झारखण्ड की भाषाएँ

भाग तीन (अंग्रेजी) - बिहार एवं उत्तर प्रदेश की भाषाएँ- अनुभाग एक

भाग तीन (हिन्दी) - बिहार एवं उत्तर प्रदेश की भाषाएँ- अनुभाग दो

भाग चार (अंग्रेजी) - बिहार एवं उत्तर प्रदेश की भाषाएँ

खण्ड-छः (अंग्रेजी)

आन्ध्र प्रदेश - तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, पाण्डिचेरी, गोवा, लक्षद्वीप एवं अण्डमान प्रायद्वीपों की भाषाएँ

खण्ड-सात (मराठी एवं गुजराती)

भाग एक (मराठी) - महाराष्ट्र की बोली व भाषा

भाग दो (गुजराती) - गुजरात की भाषा बहुलता

भाग तीन (अंग्रेजी/हिन्दी) - महाराष्ट्र एवं गुजरात की भाषाएँ/महाराष्ट्र एवं गुजरात की भाषा विविधता

खण्ड-आठ (हिन्दी, पंजाबी एवं अंग्रेजी)

भाग एक (हिन्दी) - राजस्थान एवं हरियाणा की भाषा विविधता

भाग दो (पंजाबी) - पंजाब की भाषा विविधता

भाग तीन (अंग्रेजी) - पंजाब, हरियाणा एवं राजस्थान की भाषाएँ

खण्ड-नौ (हिन्दी एवं अंग्रेजी)

भाग एक (हिन्दी) - मध्य प्रदेश की भाषाएँ

भाग दो (अंग्रेजी) - मध्य प्रदेश में भाषा विविधता

भाग तीन (हिन्दी) - छत्तीसगढ़ की भाषाएँ

भाग चार (अंग्रेजी) - छत्तीसगढ़ में भाषा विविधता

खण्ड-दस (अंग्रेजी)

भाग एक - आदिवासी समुदायों की भाषाएँ

भाग दो - आदिवासी समुदायों की भाषाएँ

खण्ड-ग्यारह (अंग्रेजी)

भाग एक - घुमन्तू जातियों की भाषाएँ

भाग दो – घुमन्तू जातियों की भाषाएँ

खण्ड-बारह (अंग्रेजी)

समुद्रतटीय भाषाएँ

खण्ड-तेरह (अंग्रेजी)

अनुसूची में शामिल भाषाएँ

खण्ड-चौदह (अंग्रेजी)

भाग एक – भाषा विकास – जनगणना, सर्वेक्षण, नीति

भाग दो – भाषा विकास – रेडियो, टीवी, प्रिंट मीडिया

भाग-तीन – भाषा विकास – इण्टरनेट एवं डिजिटल टेक्नोलॉजी

खण्ड-पंद्रह (अंग्रेजी)

भाषा एक – भाषा समाजशास्त्र – बहुभाषिक दायरा – नगर

भाग दो – भाषा समाजशास्त्र – बहुभाषिक दायरा – तीर्थाटन एवं पर्यटन

खण्ड-सोलह (अंग्रेजी)

भाग-एक – भाषा, प्रवास एवं प्रव्रजन – अनुसूची में शामिल भाषाएँ

भाग दो – भाषा, प्रवास एवं प्रव्रजन – ग्रामीण एवं आदिवासी प्रव्रजन

खण्ड-सत्रह (अंग्रेजी)

भाग-एक – भाषा अध्ययन – व्याकरण, शब्दसंग्रह, शब्दकोश, अनुवाद

भाग दो – भाषा अध्ययन – संस्थाएं, साहित्यिक अध्ययन

खण्ड-अठारह (अंग्रेजी)

भाग-एक – भारत में लिपियां एवं पाण्डुलिपियां

भाग-दो (बहुभाषिक) – भारतीय भाषाओं से ग्रहीत शब्द (अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पैनिश इत्यादि)

खण्ड-उन्नीस (अंग्रेजी)

भाग-एक – समकालीन प्रयुक्त प्राचीन भारतीय भाषाएँ

भाग-दो – भारत में अन्तर्राष्ट्रीय भाषाएँ

खण्ड-बीस (अंग्रेजी)

बहुभाषिक परिशिष्ट एवं अनुक्रमणिकाएं

(i) PLSI के लिए कार्यशालाएं एवं बैठकें

(ii) PLSI के सहयोगी लेखक– परिचय

(iii) सम्मिलित भाषाएँ

(iv) ग्रियर्सन के सर्वेक्षण और PLSI की तुलनात्मक तालिका

(v) समग्र अनुक्रमणिका (PLSI प्रविष्टियों से संग्रहीत)

(vi) तुलनात्मक-रंगों के लिए प्रयुक्त शब्द

(vii) तुलनात्मक-रिश्तों के शब्द

(viii) स्थान और समय के लिए तुलनात्मक शब्द

(ix) प्रमुख शब्दों की शब्दावली बोलियां, (रजिस्टर (लिपिबद्ध करना), भिन्नता तथा बहुभाषिकता)

जब मैंने इसे प्रस्तावित किया तब प्रस्तावित बीस खण्डों की सामग्री जो भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण में आने वाली थी वह 'पारम्परिक' और 'औचित्यपूर्ण' प्रतीत हुई। किन्तु अगस्त 2010 तक PLSI कार्यशाला और बैठकों के कई आयोजन हो चुके थे जिसमें हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, जम्मू एवं कश्मीर, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु तथा केरल के सन्दर्भ में चर्चाएं हुईं थीं और इनमें से अनेक राज्यों की प्रारम्भिक प्रवृष्टियां मिलनी शुरू हो गईं थीं। विद्वान, सांस्कृतिक और जमीनी कार्यकर्ता, अध्यापक तथा अन्य लोगों को अपनी भाषा और अपने क्षेत्र से सम्बन्धित उत्तरदायित्त्व दे दिए गए थे। 2010 में राष्ट्रीय सम्पादकीय समूह की बैठक के दौरान जो चर्चाएं हुईं वे 'भारत में भाषाओं का सर्वेक्षण' कराने की धारणा पर केन्द्रित नहीं थीं। NEC फोरम पर इसके सन्दर्भ में कई जमीनी हकीकत सामने आईं जिनसे कि विभिन्न खण्डों के प्रकाशन की अन्य योजना बनाई। इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था, भारतीय राज्यों के गठन का इतिहास तथा भारत का भाषायी सर्वेक्षण– इनका परस्पर संबंध ध्यान में रखा जाए। यह बात भी सामने आई कि अपनी भाषाओं की 'अस्मिता' की रक्षा के लिए बहुत से लोगों ने बलिदान दिया और अपने प्राणों की आहुति दे दी। यह बात भी रेखांकित करने योग्य है कि आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, पंजाब, उड़ीसा, त्रिपुरा, गोवा तथा अनेक दूसरे राज्यों के भाषायी आन्दोलनों को इन राज्यों की चर्चा के दौरान दरकिनार नहीं किया जा सकता। इसलिए दो या कई राज्यों की रिपोर्ट को एक खण्ड में शामिल करने पर पुनर्विचार की आवश्यकता महसूस हुई।

मैंने शुरू में ही कहा कि जब से मैंने आदिवासी समुदायों के साथ काम करना शुरू किया तब से मैंने माना कि बौद्धिक कार्यों का श्रेय व्यक्तियों को नहीं अपितु सामूहिक रूप से दिया जाना चाहिए जिसके कारण इस प्रकार का कार्य सम्भव हो पाता है। इसके अनुरूप ही मैंने सम्पादकीय समूह को सुझाव दिया कि भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण के 'लेखक' का उल्लेख उन सभी व्यक्तियों के नाम देकर किया जाना चाहिए जो इसमें शामिल हैं। बड़ौदा की पहली NEC की बैठक में लगभग सात सौ लोग स्वेच्छा से सर्वेक्षण में सहयोग देने अथवा आंकड़ों के संग्रह में सहायता करने के लिए आए। मैंने अनुमान लगाया था कि यह संख्या और बढ़ेगी क्योंकि अभी भी बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पूर्वोत्तर के प्रदेशों में कार्य शुरू करना था। मैंने सुझाव दिया कि हम इन सभी एक हजार या उससे अधिक नामों को आवरण पृष्ठ पर 'लेखक' के रूप में छाप दें। मेरे विचार को राष्ट्रीय सम्पादकीय समूह (NEC) का समर्थन नहीं मिला। दक्षिण भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण विचारकों ने स्पष्ट रूप से अपनी इच्छा व्यक्त की कि उन्हें PLSI राज्य समन्वयक या खण्ड सम्पादक के रूप में श्रेय दिया जाए। कुछ अन्य महानुभावों ने प्रकाशन प्रक्रिया के बारे में अपने सरोकार व्यक्त किए। उनका तर्क था कि कोई भी अच्छा प्रकाशक कभी भी हजार या उससे भी ज्यादा 'लेखकों' के लिए संयुक्त रूप से किसी अनुबन्ध पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेगा। इससे पहले मैंने अपने सारे कार्य सामूहिक बौद्धिक कार्य का दृढ़ता से पालन करते हुए किए थे। यद्यपि, मैं 'ढोल', 'बोल' तथा आदिवासी अकादमी और भाषा रिसर्च सेण्टर के अन्य प्रकाशनों का श्रेय स्वयं ले सकता था पर मैंने सदैव इस बात पर ज़ोर दिया कि जिन समुदायों से लोग आए हैं या जिनकी भाषा या संस्कृति का उसमें प्रतिनिधित्व हो रहा है उनको 'सम्पादक' या 'लेखक' के रूप में श्रेय देना चाहिए। फिर भी, इस मामले में मैंने सामूहिक 'बौद्धिक' अभिमत के उल्लेख को

माना कि मेरा विचार भारत के बौद्धिक इतिहास में या तो बहुत देरी से आया या समय से बहुत पहले आ गया था।

इसके अतिरिक्त, भाषा आन्दोलनों तथा व्यक्तिगत लेखकीयता को लेकर हुए विमर्श में परस्पर विरोधी तर्क विविध प्रकार से दिए गए। कुछ का तर्क सामूहिक अस्मिता की भूख पर केन्द्रित था जबकि दूसरों ने व्यक्तिगत अस्मिता की पिपासा पर बल दिया। कुछ लोग विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के अध्यापक थे। वे अपनी संस्थाओं को यह बताना चाहते थे कि वे अपने व्यावसायिक समय का उपयोग किस प्रकार औचित्यपूर्ण ढंग से कर रहे हैं। इसलिए स्पष्टत: उनके लिए यह आवश्यकता थी कि वे इस कार्य में भागीदार का श्रेय या प्रमाण प्राप्त करें।

राष्ट्रीय सम्पादकीय समूह में हुई चर्चा के आलोक में मैंने निर्णय लिया कि राज्य समन्वयकों और खण्ड सम्पादकों की इच्छा का सम्मान करूं और उनकी विशिष्ट भूमिका को रेखांकित करूं। बदले में, राष्ट्रीय सम्पादक समूह ने मेरे निम्नलिखित सुझावों को स्वीकार किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं।

(i) भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण को देशज, घुमन्तू, समुद्रतटीय तथा पहाड़ी समुदायों की भाषाओं के सम्वर्धन का लोक अभियान माना जाए।

(ii) प्रत्येक खण्ड के आरम्भ में इसके सभी सहयोगियों की पूरी सूची दी जाए।

(iii) सर्वेक्षण का मुख्य बिन्दु राज्यों की सांस्कृतिक पहचान के बजाय भाषिक विविधता हो।

बैठक के बाद महीनों मैंने विभिन्न राज्यों तथा संघशासित क्षेत्रों का दौरा किया और वहां बनाई गई टीम के साथ आपस में विचार किया कि सम्बन्धित राज्यों में समन्वयक की जिम्मेदारी कौन लेगा तथा राज्य के लिए बने खण्ड का सम्पादन कौन करेगा। कई बैठकों, कार्यशालाओं, चर्चाओं तथा परस्पर विचार-विमर्श के बाद मैंने निर्णय लिया कि जब हम इसका प्रकाशन करें तो प्रत्येक राज्य के लिए PLSI शृंखला में एक खण्ड आवश्यक होगा। हमने यह भी तय किया कि कुछ राज्यों में खण्ड पहले वहां की मुख्य भाषा में प्रकाशित होंगे और उसके बाद व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए स्वतन्त्र रूप से वे अंग्रेजी में प्रकाशित किए जाएंगे। PLSI (पी.एल.एस.आई) के आरम्भ से ही प्रकाशित खण्डों की पठनीयता उन भाषिक समुदायों को ध्यान में रख कर रखी गयी जिन्होंने अपनी भाषाओं को अभी तक जीवित रखा है।

मैं मानता हूं कि शब्दकोश निर्माण करने, व्याकरण लिखने तथा भाषा पर आधारित अन्य तरह के संरचनात्मक अध्ययन में विद्वतापूर्ण प्रतिभा की आवश्यकता है। किन्तु भाषा का विकास या उसका जीवन, खास तौर से हाशिए पर रख दी गईं भाषाओं का विकास और जीवन, किसी अन्य बाहरी सहायता पर उतना नहीं बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि स्वयं उसके समुदाय ने भाषा को कितना समर्थन दिया है। भाषा एक तरह का ऐसा 'प्राणी' है जो कभी भी किसी के बाहरी सहयोग से चल नहीं सकता। वह सिर्फ खुद निर्माण किए ओजस्वी वातावरण में ही चल सकता है। इसलिए हमने निर्णय लिया कि पहले भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण खण्ड उन भाषाओं में प्रकाशित किए जाएं जो गांवों में बोली जाती हैं और आम आदमी उन्हें समझता है। जाहिर है, अंग्रेजी उन भाषाओं में शामिल नहीं है।

किन्तु इसके साथ-साथ मैंने यह भी महसूस किया कि यदि इतने बड़े पैमाने पर कोई भाषायी सर्वेक्षण किया जाए तो भारत के बाहर दुनिया में भी लोग इस रिपोर्ट को देखने के लिए उत्सुक रहेंगे। इसलिए मैंने निश्चय किया कि अन्य शृंखला पी.एल.एस.आई नेशनल सीरीज (पी.एल.एस.आई राष्ट्रीय शृंखला) अंगेजी में प्रकाशित की जाएगी। मैंने प्रस्तावित किया कि निम्नलिखित शीर्षकों से राज्यों के भाषा खण्डों पर आधारित खण्ड प्रकाशित किए जाएं।

1. The Classical Languages of India : Sanskrit, Persion, Arabic etc.

(भारत की क्लासिक भाषाएँ : संस्कृत, फारसी, अरैबिक आदि)

2. English and foreign Languages in India : English, French, Portuguese, Syriac etc.
(भारत में अंग्रेजी एवं विदेशी भाषाएँ : अंग्रेजी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, सीरियाई इत्यादि)
3. Hindi, Hindustani and Allied Languages
(हिन्दी, हिन्दुस्तानी एवं अन्य सम्बन्धित भाषाएँ)
4. Indian Sign Language(s)
(भारतीय संकेत भाषाएँ)
5. Scheduled Languages Vol I
(अनुसूची में शामिल भाषाएँ खण्ड 1)
6. Scheduled Languages Vol II
(अनुसूची में शामिल भाषाएँ खण्ड 2)
7. Indian Languages in Diaspora Vol I
(प्रवासियों की भारतीय भाषाएँ खण्ड 1)
8. Indian Languages in Diaspora Vol II
(प्रवासियों की भारतीय भाषाएँ खण्ड 2)
9. Multilingual Spaces
(बहुभाषिक दायरा)
10. The Language Census, Language Surveys and Policy
(भाषायी गणना, भाषायी सर्वेक्षण और नीति)।

यह तय हुआ था कि भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण दो अलग-अलग अनुभागों में प्रकाशित होगा। पहले में राज्य विशेष की रिपोर्ट होगी तथा दूसरे में समग्र राष्ट्रीय परिदृश्य को प्रस्तुत किया जाएगा। यह दो अलग प्रकाशनों से प्रकाशित होगा।

प्रकाशन की इस योजना में स्वाभाविक रूप से विभिन्न खण्डों में परस्पर सन्दर्भ देने की बड़ी आवश्यकता थी। राज्य विशेष के खण्डों तथा समग्र राष्ट्र खण्डों में कॉपीराइट प्रबन्ध की जटिल व्यवस्था हो जाएगी। कॉपीराइट की इन जटिलताओं और प्रकाशन की रीतियों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय लिया गया कि पी.एल.एस.आई. के समग्र रूप को एक ही श्रृंखला में विभिन्न खण्डों में प्रकाशित किया जाए। यह सौभाग्य की बात है कि ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रकाशन गृह ने पूरी श्रृंखला को प्रकाशित करने का जिम्मा सम्भाल लिया। हमने निर्णय लिया कि भारतीय भाषाओं के कुछ प्रकाशकों को भी पी.एल.एस.आई. प्रकाशन में जोड़ दिया जाए जिन्होंने स्वेच्छा से न केवल प्रकाशन अपितु संचयन, सम्पादन तथा कुछ राज्य विशेष के खण्डों की परीक्षण प्रक्रिया से अपने को जोड़ा था।

पी.एल.एस.आई. श्रृंखला के शीर्षक

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए अब पी.एल.एस.आई. के खण्डों के शीर्षक इस प्रकार हैं-

Volume 1

The Being of Bhasha: A General Introduction

Part One—Hindi

G. N. Devy

Part Two—English

G. N. Devy

Volume 2

The Languages of Andaman and Nicobar IslanosQ

Part One—Hindi

Edited by M. Sreenathan

Part Two—English

Edited by M. Sreenathan

Volume 3

The Languages of Andhra Pradesh and Telangana
Part One—Hindi

Edited by A. Usha Devi

Part Two—English

Edited by A. Usha Devi

Part Three—Telugu

Edited by A. Usha Devi

Volume 4

The Languages of Arunachal Pradesh

Part One—Hindi

Lisa Lomdak

Part Two—English

Lisa Lomdak

Volume 5

The Languages of Assam

Part One—Hindi

Edited by Bibha Bharali and Banani Chakravarty

Part Two—English

Edited by Bibha Bharali and Banani Chakravarty

Part Three—Assamese

Edited by Bibha Bharali and Banani Chakravarty

Volume 6

The Languages of Bihar

Part One—Hindi

Edited by Vibha Chauhan

Part Two—English

Edited by Vibha Chauhan

Volume 7

The Languages of Chhattisgarh

Part One—Hindi

Edited by Chitta Ranjan Kar

Part Two—English

Edited by Chitta Ranjan Kar

Volume 8

The Languages of Goa

Part One—Hindi

Edited by Madhavi Sardesai

Part Two—English

Edited by Madhavi Sardesai

Volume 9

The Languages of Gujarat, Daman-Diu and Dadra-Nagar Haveli

Part One—Hindi

Edited by Kanji Patel

Part Two—English

Edited by Kanji Patel

Part Three—Gujarati

Edited by Kanji Patel

Volume 10

The Languages of Haryana

Part One—Hindi

Edited by Roop K. Bhat and Omkar N. Koul

Part Two—English

Edited by Roop K. Bhat and Omkar N. Koul

Volume 11

The Languages of Himachal Pradesh
Part One—Hindi
Edited by Tobdan
Part Two—English

Edited by Tobdan

Volume 12

The Languages of Jammu and Kashmir

Part One—Hindi

Edited by Omkar N. Koul

Part Two—English

Edited by Omkar N. Koul

Volume 13

The Languages of Jharkhand

Part One—Hindi

Edited by Ramnika Gupta and Prabhat Kumar Singh

Part Two—English

Edited by Ramnika Gupta and Prabhat Kumar Singh

Volume 14

The Languages of Karnataka

Part One—Hindi

Edited by Rajeshwari Maheshwaraiah & M.Maheshwaraiah

Part Two—English

Edited by Rajeshwari Maheshwaraiah & M.Maheshwaraiah

Part Three—Kannada

Edited by Rajeshwari Maheshwaraiah & M.Maheshwaraiah

Volume 15

The Languages of Kerala and Lakshadweep

Part One—Hindi

Edited by M. Sreenathan and Joseph Koyippally

Part Two—English

Edited by M. Sreenathan and Joseph Koyippally

Volume 16

The Languages of Madhya Pradesh

Part One—Hindi

Edited by Damodar Jain

Part Two—English

Edited by Prashant Mishra

Volume 17

The Languages of Maharashtra

Part One— Hindi

Edited by Arun Jakhade

Part Two—English

Edited by Arun Jakhade

Part Three—Marathi

Edited by Arun Jakhade

Volume 18

The Languages of Manipur

Part One— Hindi

Edited by Nipuni Mao

Part Two—English

Edited by Nipuni Mao

Volume 19

The Languages of Meghalaya

Part One— Hindi

Edited by Esther Syiem

Part Two—English

Edited by Esther Syiem

Part Three—Khasi and Garo

Edited by Esther Syiem

Volume 20

The Languages of Mizoram

Part One— Hindi

Edited by L. Thangi Chhangte

Part Two—English

Edited by L. Thangi Chhangte

Volume 21

The Languages of Nagaland

Part One— Hindi

Edited by Duovituo Kuolie

Part Two—English

Edited by Duovituo Kuolie

Volume 22

The Languages of Odisha

Part One—Hindi

Section One—Edited by D. P. Pattanayak

Section Two—Edited by Mahendra Kumar Mishra

Part Two—English

Section One—Edited by D. P. Pattanayak

Section Two—Edited by Mahendra Kumar Mishra

Part Three— Odiya

Section One—Edited by D. P. Pattanayak

Section Two—Edited by Mahendra Kumar Mishra

Volume 23

The Languages of Puducherry

Part One—Hindi

Edited by L Ramamoorthy and G. Ravishankar

Part Two—English

Edited by L Ramamoorthy and G. Ravishankar

Volume 24

The Languages of Punjab

Part One—Hindi

Edited by Omkar Koul and Roop K. Bhat

Part Two—English

Edited by Omkar Koul and Roop K. Bhat

Volume 25

The Languages of Rajasthan

Part One—Hindi

Edited by Madan Meena and Suraj Rao

Part Two—English

Edited by Madan Meena and Suraj Rao

Volume 26

The Languages of Sikkim

Part One— Hindi

Edited by Balaram Pandey

Part Two—English

Edited by Balaram Pandey

Part Three—Nepali

Edited by Balaram Pandey

Volume 27

The Languages of Tamil Nadu

Part One—Hindi

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

Part Two—English

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

PartThree—Tamil

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

Volume 28

The Languages of Tripura

Part One—Hindi

Edited by Sukhendu Debbarma

Part Two—English

Edited by Sukhendu Debbarma

Volume 29

The Languages of Uttar Pradesh

Part One—Hindi

Edited by Badri Narayan

Part Two—English

Edited by Badri Narayan

Volume 30

The Languages of Uttarakhand

Part One—Hindi

Edited by Uma Bhat and Shekhar Pathak

Part Two—English

Edited by Uma Bhat and Shekhar Pathak

Volume 31

The Languages of West Bangal

Part One—Hindi

Edited by Sankar Singha and Indranil Acharya

Part Two—English

Edited by Sankar Singha and Indranil Acharya

Part Three—Bangla

Edited by Sankar Singha and Indranil Acharya

Volume 32

The Scheduled Languages—Assamiya, Bangla, Bodo, Maithili, Manipuri, Oriya, Nepali, Santali

Edited by G. N. Devy & Nipuni Mao

Volume 33

The Scheduled Languages—Dogri, Kashmiri, Punjabi, Urdu

Edited by Omkar N. Koul

Volume 34

The Scheduled Languages—Gujarati, Konkani, Marathi, Sindhi

Edited by G. N. Devy

Volume 35

The Scheduled Languages—Kannada, Malayalam, Tamil and Telugu

Edited by V. Gnanasundaram and K. Rangan

Volume 36

The Scheduled Languages—Sanskrit and Hindi

Edited by Avadhesh K. Singh

Volume 37

English and other International Languages

Part One—European: English, French and Portuguese

Edited by T. Vijay Kumar

Part Two—Asian: Arabic, Karen, Nepali, Parsian, Syriac and Tibetan

Edited by Sukrita Paul Kumar

Volume 38

Indian Sign Language(s)

Part One—Hindi

Edited by Tanmoy Bhattacharya, Nisha Grover and Surinder P. K. Randhawa

Part Two—English

Edited by Tanmoy Bhattacharya, Nisha Grover and Surinder P. K. Randhawa

Volume 39

Shared Languages of the Indian Subcontinent

Edited by Sukrita Paul Kumar

Volume 40

The Tribal Language—The North-Eastern States

Edited by G. N. Devy

Volume 41

The Tribal Languages—The Eastern States—Bengal, Bihar, Jharkhand, Orissa

Edited by G. N. Devy

Volume 42

The Tribal Languages—Central Indian States—Chhattisgarh, Gujarat, Madhya Pradesh, Maharashtra, Rajasthan

Edited by G. N. Devy

Volume 43

The Tribal Languages—The Southern States and the IslanosQ

Edited by G. N. Devy

Volume 44

The Tribal Languages of the North-West and the Himalayan States

Edited by Omkar N. Koul

Volume 45

Language Census, Survey and Policy

Edited by B. Mallikarjun

Volume 46

Scripts in India

Edited by G. N. Devy

Volume 47

Indian Languages in Diaspora

Edited by T. Vijay Kumar

Volume 48

Comparative Wordlist—Kinship and Social Relations

Edited by G. N. Devy

Volume 49

Comparative Wordlist—Time and Space

Edited by G. N. Devy

Volume 50

The Future of Indian Languages

Part One—Hindi

Edited by G. N. Devy

Part Two—English

Edited by G. N. Devy

इस श्रृंखला के प्रादेशिक भाषा सम्पादक रहे :

आशा सारंगी

अवधेश कुमार सिंह

बी. रामकृष्ण रेड्डी

बडाप्लिन वार

ईस्थर स्याम

जुनीता वार

के. रंगन

लक्ष्मण खूबचंदानी

माधवी सरदेसाई

ओंकार एन. कौल

वी. ज्ञानसुंदरम

प्रत्येक खण्ड की संरचना

भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण के लोकतांत्रिक एवं सामुदायिक ढांचे की प्रकृति के अनुरूप यह आवश्यक था कि सम्पूर्ण श्रृंखला में समन्वय इस प्रकार स्थापित किया जाए कि वह पूरी प्रक्रिया में लोकतांत्रिकी रहे। इसके लिए कई मॉडल थे। पहला स्वाभाविक मॉडल था ग्रियर्सन का 'भारत का भाषायी सर्वेक्षण' (Linguistic Survey of India)। इसमें कई खण्डों में सामग्री को भाषा परिवारों और भौगोलिक सीमाओं के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। इनमें एक खण्ड है जिसमें उन बातों को शामिल किया गया है जो सामग्री आवंटन योजना में कहीं भी उचित नहीं लगती थीं। इसमें उन भाषाओं को शामिल किया गया है जिसे ग्रियर्सन बंजारा भाषाएँ (Gypsy Languages) कहते हैं (*PLSI*, Vol XI)। पी.एल.एस.आई. की रिपोर्ट को प्रस्तुत करने का दूसरा स्वाभाविक मॉडल था कि उसे विश्वकोश के रूप में A से Z खण्डों में प्रकाशित किया जाए और पाठकों के विवेक पर यह छोड़ दिया जाए कि वे विषय सूची देखकर अपनी पसन्द से खण्ड को पढ़ें। हमने यह निर्णय लिया कि इनमें से किसी भी मॉडल को न स्वीकार किया जाए। हमने अलग-अलग खण्ड बनाए और सोचा कि यह पाठकों पर छोड़ दिया जाए कि यदि वे किसी खास क्षेत्र या विषय वस्तु को ध्यान में रखकर पढ़ने के इच्छुक हों तो अपनी सुविधानुसार उस विशिष्ट खण्ड को पढ़ लें। इसलिए प्रथम खण्ड अर्थात प्रस्तुत खण्ड में सामान्य परिचय दिया जाए और अंतिम खण्ड में भारतीय भाषाओं के भविष्य (The Future of Indian languages) की चर्चा हो; तथा अन्य खण्डों में स्पष्ट रूप से भौगोलिक या उस विषय विशेष का विवेचन होगा। इस प्रकार 2-31 खण्डों में रोमन वर्णमाला के क्रम में विभिन्न राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों की भाषाओं की स्थितियों पर चर्चा की गई है। इनकी सूची में राज्यों के सरकारी तौर पर स्वीकृत नाम दिए गए हैं। इस प्रकार, उदाहरण के लिए पश्चिम बंगाल के स्थान पर West Bengal को प्राथमिकता दी गई है। प्रत्येक खण्ड में, हमने राज्य की मुख्य भाषा का परिचय दिया है जो सांविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल है। उसके बाद राज्य की अन्य अनुसूचित भाषाएँ, जनजातीय समुदायों द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ, घुमन्तू समुदायों की भाषाएँ तथा इन सभी श्रेणियों में शामिल न हो सकने वाली अन्य भाषाएँ इसी क्रम में दी हैं।

संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल भाषाओं के सन्दर्भ में सूचनाएं इस क्रम में दी गई हैं- भाषाओं के नाम की उत्पत्ति तथा इतिहास की व्याख्या, उसके उदय का भौगोलिक क्षेत्र, भाषा का विकास, भाषा के लिए हुए

अध्ययन, (जो उपलब्ध हो सके) उनका सिंहावलोकन, भाषिक वैशिष्ट्य, विभिन्न क्षेत्रों में इसका उपयोग जैसे मीडिया, सिनेमा तथा संगीत और इसके संरक्षण के लिए संस्थागत सहयोग। यह एक सामान्य प्रविधि अपनाई गई है जिसमें प्रत्येक अनुसूचित भाषा के ऐतिहासिक और भौगोलिक सन्दर्भ में विवरण दिया जाए। गैर अनुसूचित भाषाओं के मामलों में हमने भाषा के (नामों) की जानकारी उसी रूप में दी है, जिस रूप में लोग इसे जानते हैं, उसका इतिहास जानते हैं- अनेक मामलों में तो यह विद्वान इतिहासकारों के मतों से भिन्न होगा और उसे वे स्वीकार नहीं कर सकेंगे- भाषिक विशेषताएं और व्याकरण का संक्षिप्त विवरण, गीत या कहानी के रूप में भाषा का कोई नमूना, रिश्तों को व्यक्त करने वाले शब्दों की सूची, समय और स्थान के द्योतक शब्द, रंग के लिए प्रयुक्त शब्द तथा जिस क्षेत्र में यह भाषा बोली जाती है, उसके कुछ पक्षों का उल्लेख होगा।

जिन व्यक्तियों ने पी.एल.एस.आई. में सहयोग किया है उन समुदायों और उनके प्रतिनिधियों की मान्यताओं को पर्याप्त महत्त्व देने के लिए हमें यह आवश्यक लगा कि हम कोई एक ही मानदण्ड या सभी के लिए एक सामान्य मानदण्ड उन पर न थोपें, और पुस्तकों के सामान्यतः स्वीकृत मानदण्डों के अनुरूप सामग्री के चयन का केवल एक ही आदर्श न रखा जाए अपितु यह महसूस किया गया कि प्रत्येक खण्ड में एक आन्तरिक सुसंगति हो, न कि सभी खण्डों में एक ही मानक का अनिवार्यतः पालन किया जाए। खास तौर से यह भारतीय शब्दों के लिप्यंतरण और लिप्यांकन में आवश्यक था।

पिछली तीन शताब्दियों से रोमन वर्णमाला के लिप्यंतरण के कई तरीके देश के विभिन्न प्रांतों में प्रचलित हैं। गोवा में जो परम्परा पोर्तुगीजों के प्रभाव में आई उसका बांग्ला के पाठकों के लिए कोई अर्थ नहीं होगा। संस्कृत के विद्वानों ने जो परम्परा शुरू की है उसे युवा पीढ़ी के पाठक पूरी तरह से नहीं स्वीकार करेंगे। यद्यपि, यह सम्भव है कि तमिल और हिन्दी के लिए एक ही लिप्यंतरण पद्धति लागू की जा सके किन्तु यह न तो तमिल और न ही हिन्दी भाषी लोगों के लिए पूर्णतः उपयुक्त होगी। इसलिए हमने निर्णय लिया कि खण्ड सम्पादकों को लिप्यंतरण और लिप्यंकन की जो भी प्रविधि उपयुक्त और सुविधाजनक लगे उसको अपनाएं। भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार की उदारता अत्यधिक असुविधाजनक लगेगी। फिर भी निर्णय तो लेना ही था क्योंकि भाषा लोक सर्वेक्षण का सरोकार उस भाषा को बोलने वालों से है न कि उस भाषा के विद्वानों से। यद्यपि, इसकी सामग्री का उपयोग आधार या स्रोत के रूप में विद्वानों के द्वारा किया जा सकता है जब वे इससे सम्बन्धित अध्ययन करना चाहें। इसलिए पाठकों को मैं सचेत करना चाहूंगा कि सामग्री का मूल्यांकन इन निकषों में न करें क्योंकि पारम्परिक रूप से विद्वान जिस ढंग से सामग्री प्रस्तुत करते हैं उस रूप में यहां सामग्री नहीं मिलेगी।

इस श्रृंखला के बत्तीस से छत्तीस तक के खण्ड अनुसूचित भाषाओं पर केन्द्रित हैं। इसके बाद के तीन खण्डों में विभिन्न विषयों पर चर्चा की गई है जो खंड भारत की जीवित भाषाओं के सन्दर्भ में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, इनमें शामिल हैं अन्तर्राष्ट्रीय भाषाएँ, भारतीय सांकेतिक भाषाएँ तथा समुद्रतटीय भाषाएँ। खण्ड चालीस से चौवालीस तक के खंड जनजातीय भाषाओं के विषय पर विचार के लिए निर्धारित हैं जिनका विभाजन जनजातीय समुदायों की उपस्थिति वाले राज्यों और जनसांख्यकीय दृष्टि से किया गया है। खण्ड पैंतालीस एक अलग तरह का ही खण्ड है जिसमें भाषाओं की चर्चा नहीं है अपितु उनसे जुड़ी नीतियों की चर्चा की गई है। इसमें जनगणना की प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक ऐतिहासिक दस्तावेजों को संकलित किया गया है। इसके साथ ही, इसमें भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण तथा केन्द्र सरकार और कुछ राज्य सरकारों द्वारा अपनाई गई नीतियों के लिए होने वाले विभिन्न प्रयासों की भी चर्चा की गई है। यह खण्ड इस तरह से बनाया गया है कि वह पाठकों को समझा सके कि भारतीय भाषाओं की स्थिति क्या है और ऐसी स्थिति क्यों है?

अगले खण्ड की योजना आरम्भ में तो पड़ोसी देशों की भाषाओं के रूप में की गई थी जिस पर पी.एल.एस. आई. के राष्ट्रीय संपादन मंडल (NEC) की जनवरी 2011 में राजस्थान विश्वविद्यालय, अजमेर में हुई बैठक में बड़ी बहस हुई। इस बहस में प्रस्ताव किया गया कि चूंकि भाषाएँ अपनी प्रकृति के अनुसार विस्तृत होती हैं और वह किसी राष्ट्र की सीमा में सीमित नहीं रहतीं इसलिए भाषा लोक सर्वेक्षण को वास्तव में अपने पड़ोसी देशों की भाषाओं के विवरण के साथ शुरू किया जाना चाहिए। इस तर्क को खारिज करना कठिन था। फिर भी उन देशों की भाषाओं को समाहित करने की कठिनाइयां जो दूसरे देशों की सीमाओं से जुड़ी हैं और सीधी सीमाओं से जुड़े देशों की भाषाओं के दायरे से बाहर की भाषाओं के विषय में भी चर्चा करना कठिन होगा। इन बातों को सोचते हुए हमने तय किया कि पी.एल.एस.आई. का प्रस्ताव उस रूप में न हो जिस रूप में तर्क दिया गया था। इन बातों के महत्त्व को रेखांकित किया गया तथा यह तय हुआ कि इस सर्वेक्षण में इस तत्त्व को ध्यान में रखा जाए। इतना ही महत्त्वपूर्ण विषय था भारत की लिपियों का ब्यौरा देना। भारत लिपियों की दृष्टि से दुनिया का अत्यन्त समृद्ध देश है। इसलिए लिपि की विविधता को महत्त्व देते हुए हमने तय किया कि एक समग्र खण्ड इस पर केन्द्रित हो।

अब तक, सरकारी तौर पर अनुसूचित भाषाओं और जनजातीय भाषाओं का विवरण दिया गया है किन्तु, अब तक किसी भी जनगणना या नियामक संस्था ने इस बात का उल्लेख नहीं किया कि हजारों सालों से भारतीय भाषाओं ने समुद्र पार की भाषाओं से शक्ति और समृद्धि प्राप्त की है। भारत की विशाल समुद्री सीमा भारत की भाषिक विविधता के अधिकांश हिस्से के उद्भव एवं विकास का एक प्रमुख कारक रही है। इसलिए हमने यह आवश्यक समझा कि भारत की समुद्रतटीय भाषाओं पर एक खण्ड तैयार किया जाए। पी.एल.एस.आई. के एक खण्ड में इन्हीं भाषाओं की चर्चा की गई है। इसी प्रकार, यह आवश्यक था कि भारत के बाहर फैली भारतीय भाषाओं के अस्तित्व की चर्चा की जाए।

ग्रियर्सन के समय में भी भारतीय सामाजिक गतिशीलता का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रवासन था। हमारे समय में सामाजिक गतिशीलता का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक बन गया है। अब तो हम पाते हैं कि भारतीय मूल के निवासी दुनिया के विभिन्न महाद्वीपों के लगभग सभी देशों में बस गए हैं या बसते जा रहे हैं। वे भारत से बाहर जाते हैं तो उनकी भाषाएँ भी उनके साथ नए भाषा के परिवेश में चली जाती हैं (शर्मा एवं अन्नामलाई (Sharma and Annamalai), 2003)। इसलिए यह आवश्यक है कि भारत के भीतर भारतीय भाषाओं का समग्र विवेचन करते हुए भारत के बाहर की भारतीय भाषाओं की मौजूदगी पर भी विचार किया जाए। इसी तरह, भारत में मौजूद अनेक अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं और भाषा प्रयोग को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि भारत में प्रयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं पर एक खण्ड रखा जाए। स्वाभाविक है कि अंग्रेजी इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

खण्ड 48 और 49 दोनों क्रमशः सम्बन्धवाचक (रिश्तों) शब्दों तथा समय और स्थानवाचक शब्दों से जुड़े हैं जो पी.एल.एस.आई. में शामिल सभी भाषाओं से लिए गए हैं। आशा की जाती है कि सम्बन्धवाचक शब्दों को शामिल करना केवल नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययन के लिए उपयुक्त सामग्री नहीं होगी, अपितु यह भारतीय भाषाओं की प्रकृति पर भी प्रकाश डालेगी जो कि इन भाषाओं के द्वारा परस्पर सम्बन्ध की भावना से जुड़ी अनेक विश्वदृष्टियों को भी अभिव्यक्त करेगा। यह जुड़ाव है दो व्यक्तियों के बीच, एक भाषा और पर्यावरण, एक व्यक्ति और उसकी प्रकृति, व्यक्ति और समाज, मानव जाति तथा बह्माण्ड के बीच। जिन विषयों पर अभी तक अध्ययन नहीं हुआ है उन पर भी विचार करने के लिए यह बहुत उपयोगी होगा। सम्बन्धों का अध्ययन करने के लिए सम्बन्धवाचक शब्दों की समग्रता से बनाई गई तुलनात्मक तालिका महत्त्वपूर्ण होगी। इसी तर्क के अनुसार हमें स्थान और कालवाचक शब्दों को एक साथ लाना उपयोगी हो सकेगा। हमने यह बात पी.एल.एस.आई. खण्डों की अवधारणा तय करते समय सोची थी।

पी.एल.एस.आई. में क्या शामिल है?

अब तक तो यह स्पष्ट हो चुका होगा कि विशिष्ट भाषा वैज्ञानिकों के लिए भी क्या पी.एल.एस.आई. उच्चस्तरीय शोधपरक भाषावैज्ञानिक विवेचन के लिए स्वीकार्य होगा- यह प्रश्न पूछना ही उचित नहीं है। इसका सरल उत्तर है कि पी.एल.एस.आई. भाषाशास्त्रियों की दृष्टि में एक अधूरा कार्य हो सकता है। पी.एल.एस.आई. समूह इस बात से अवगत है। फिर भी वह जिन पर वाग्आघात आरोपित है, जैसे देशज और घुमन्तू समुदायों तथा समुद्रतटीय लोगों और पहाड़ी लोगों, वाग्समुदायों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को जानता है। इसलिए पी.एल.एस.आई. ने तय किया कि उनकी भुलाई जा चुकी आवाजों को एक मंच प्रदान करे न कि उनकी भाषाओं का अकादमिक रूप से विश्लेषण प्रस्तुत करे।

यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम पी.एल.एस.आई. को समान विचारों वाले लोगों के एक आन्दोलन की अभिव्यक्ति मानें- इस समूह में विद्वानों के साथ-साथ आम लोग भी शामिल हैं जो व्यापक स्तर पर भाषा लोप और सांस्कृतिक विविधता के कम होने से चिंतित रहे हैं और जो समझ रहे हैं कि भाषाओं का भविष्य खतरे में है। इसके बावजूद पी.एल.एस.आई. के पचास खण्डों की सामग्री में भाषावैज्ञानिकों के लिए भी ऐसा बहुत कुछ होगा जिससे सैकड़ों जीवित भारतीय भाषाओं का अच्छा अध्ययन करना आसान बनेगा। इस प्रस्तावना खण्ड के बाद तीस खण्डों में निम्नलिखित भाषाओं की चर्चा की गई है-

ए.बेंग, एवी, अबुजमाडिया, आदिवासी, ओड़िया, अगार, अगारीया, अगेरा, अहिराणी, आरावली, एमोल, ऐटन आओ, अक्का हरयूसो, अम्बुडी, अनल, अण्डमानिज, अंगामी, अंगिका, आओ, अपतानी, अरैबिक, अरुणाचली, असमिया, असूर, अटोंग, बडा-परजा, बडगा, बागडी, बगाली, बघाती, बघेली, बैगा, बैगानी, बजिका, बाल्टी, बांग्ला, बंगानी, बंगारू, बंजारी/बंजारा, बरेला (भिलाई), बावरिया, बाम, बाजीगरी, बेडिया, बेलदार, बेट्टाकुरम्बा, भदवारी, भद्रवाही, भहेरा, भांड, भांटू, भतारा, भाटी, भट्टू, भीली/भीलोडी, भोजपुरी, भूटी, भूटिया, भूजेल, भूमिज, भुंजिया, बायटे, बिकानेरी, बिंझल, बिरजिया, बिरहल, बिरहोर, बिष्णुप्रिया, बोडो, बोकर अदि, बोंडा, बूट मोंपा/सारतंग, बोरी अदि, ब्रज, ब्रोखे, ब्रोक्सकत, ब्रू, बुगुन, बुक्सारी, बुन्देली, बर्मी, बुरूशस्की, ब्यारी, चकमा, चखेसां, चामाटी, चंबियाली, चंदगडी, चांग, चापी, चारनी, चरोतरी, चौधरी, चेंचु, चेरो, छपरबंद, छत्तीसगढ़ी, चिनालभासे, चिरू, चिसक, चितोड़िया, चित्पावनी, चोकरी/चाकरु, चोथे, चुराही, डांगी, डफेर, दखलिगा, दक्कखनी, दन्दामी, माडीया, डारलोंग, दर्मा रंग, डरंग-खासी, देहवाली, देसिया, देसवडी, देवरी, देवर (पारसी), धहा, धाती, धीमल, धोढ़िया, ढोरकोली, धुंधाडी, धुर्वी, (पार्जी), डिदाई, दिमारिया कार्बी, दिम्सा, डिंगल, डोगरी, डोग्बरी, डोमो/गोना, डोर्ली, दुअल, दुकपा, डुंगरा भीली, दुरूआ, द्वीप मलयालम, गड़बा, गड्डी, गालो, गामित, गांग्टे, गारा-गन चिंग, गरासिया, गढ़वाली, गारो, घांची, घिसाड़ी, घोटुल, मुरिया, गोदवाड़ी, गोजरी, गोल्ला, गोन्डी-माडिया, गोंडी तंत्या, गोरमाटी, गोरपा, गोसावी, मोली-मराठा, गुजराती, गुज्जर, गुरुड़, गुतोब-गडबा, हदेम, हजोंग, हक्की, हलम, हलारी, हल्बी/हलावा, हसलर्स, हाउथाई, हिन्दी, हूमार, हो/कोल, हरांगकल, इदू, मिषमी, इलीगास, इन्पुई, इरुला, जद, ज्दोमती, जागरोती, जपानी, जारवा, जातकी, जतापू, जतवारी, जौनपुरी, जौनसारी, जेतू, कुराबा, झाड़िया-पराजा, जोहरी, ज्वांग, काबुई, कच्छी, कच्छावागरी, कादर, कहलूरी, केकाडी, केपेन्ग, कल्रायनमलायली, कमारी, कनाषी, कांग्ड़ी, कनिक्करन, कन्नड़, कन्याक, कप्पेहोलेया, कर्बी, करेन, काश्मीरी, कथाली, कथोड़ी, कालकरी, कतार-गडबा, कट्टूनायका, कौब्रू, कौरवी, खादर ब्लांग, खड़ी भारवाड़ी, खडीया, खांबा, खाम्टी, खानदेशी लेवा, खराम, खारबा, खरीया, खासी, खेजा, खडीया-सबर, खैम्नीडगान, खोरठा, खुआफो, किनौरी, किसान, किस्तवारी, कोचकोर, कडावा, कोहारी, खोहिस्तानी, कोयरेंग, कोक्बराक, कोल-हयाम, कोलामी, कोलघा, कोल्हाटी, कोली, कोलिमाला, कौम, कोंडा, कौंध, कोंकणी, कौमर/पहेरिया, कोन्याक, कोरा, कोरगा, कोरावा, कोरबॉग, कोरकू, कोडोअक्का, कोरवा, कोशाली/ सम्बलपुरी, कोटा, कोटली, कोतवाली, कोया, कोरा/कोडा, कुडीया,

कुडमाली, कुडुख, कुई, कुकना, कुकी, कुल्लुई, कुलुड, कुमाउनी, कुंचीकोरवा, कुपिया, कुरुचीया, कुरुंबा, कुवी, कुजाली, क्योंई, लदाखी, ल्हांडा, लाहुली, लायहाल/थालटंल, लांखेर, लांगकांग, लांगरीन, ल्हासा-अपंगार, लेपचा, लियान्गलार, लियान्गमाइन, लिम्बू, लिसू-यौबीन, लोढागारी, लोधा, लोधा-सबर, लोहार, लोथा, लुबाना, लियान्गांग, माड, मदारी, मगही, मगर, महाल, महाली-अल्खंड, महसुयी, मैरांग, मैथिली, माजी, मालपहाड़ीया, मलयालम, मल्हार-कोली, माल्टो, मालवणी, मालवी, मंडा, मंडीयाली, मांगेली, मणिपुरी/मैत्रेयी, मनकडीया, मन्नन, माओ, मारा, मराम, मराठी, मार्च्छा, मरिंग, मार्नगर, मारवाड़ी, मस्तीकार, माताबेंग, मात्छी, मथवाडी, मावची, मौपेन, मौसीनराम, मेघवाल, मेमणी, मेंबा, मेर, मेरवाडी, मेवाती, मेयोर, मिजी, मिजू/कामान, मिकिर/कर्बी, मिलांग-आदी, मिनियोंग-आदी, मिर-मिरासी, मिसींग, मिश्मीदिग्रु/तराँव, मिजो, म्नार, मोघ, मोग्वीरा, मोलसोम, मोन्पा, मोनसँग, मोरान, मोटक, मोयोन, मुड्डुगा, मूडुवन, मूक्री, मुलीया, मुल्लुकूरुंबा, मुंडा (मयूरभंज), मुंडारी, मुतवकी, मुवा, नागामीज, नगरचाल, नागपुरी, नहाल, नंदिवाले, नेपाली, नेवाड, निकोबारी, निहाली, निमाडी, निषी, निषी-मेंग्योर, निषी-पालींग, निषी पांपूपारे, निषी अप्पर सुबानसीरी, नोलींग, नोक्टे, नोंगब्री, नोंगक्रेम, नोंगशेकेन, नोंगतलांग-खासी, ओडी, ओलार-गदबा, ओंगे, ओरांग/कुडुरव, ओडीया, पंचमलायी-मलयाली, पचवारा, पडाम-आदी, पैलीबो-आदी, पायटे, पायटे-पक्खतुनी, पलुकूरूबां, पंचमहाली-भीली, पंचपरगणीया, पांडो, पांग, पांगी, पणीया, परधानी, पारधी, परेंगा, परजी, पारोषी-मांग-गारुडी, पारूषी-नाथपंथी-डवरी, पासी, पट्टनी, पौडीभुयान, पावी, पावरी, पेंगो, फारसी/पर्शीयन, प्हलांग बानबोई, फोम, पिंजारा, प्नारखासी, पोचूरी, पोगुली, पोर्टूगिज, पौमाई, पुनान, पुंची, पंजाबी, पुरौक, पुरुंम, राभा, राभासी, राय, राजबंशी, राजी, रजपूती, रामो-आदी, रंगलांग, राठवी, राठया/बरेला, रवाल्टी, रेंग्मा, रोंग्मयी, रुगा, सादरी, सायमार, सामवेदी, संगमेश्वरी, सांग्टम-अु, संकेती, सांसी/भांतू, संस्कृत, संताली, सावरा, सर्याकी, सर्गुजीया, सौराष्ट्री, सेमा, सेटेनली, शबर, शहेरीया, शेखगल, शेश्वावती, शेल्ला, शेरडूकपेन, शेरपा, शिमोंग, शिना, शोम्पेन, सिदी, सिम्टे, सिकरवारी, सिंदमडीगा, सिंधी, सिंग्फो, सिरजी, सिरमौरी, सोलिग, सोनोवालकर्ची, सोरठी, स्पिती, खासी, स्तोडया, सुडुगदा-सिद्धा, सुमी, सुंवार, सुरजपूरीया, सुरती, तडवी, तागीन, ताय-अहोम, ताय-खाम्यांग, ताय-फ्हाके, ताय-तुरुंग, तलावीया-राठोड, तलहेटी, तमाद, तमांग, तमील, तांगम, तंगखुल, तांग्सा, तांग्साचोलीम, तांग्साहाकुन, तांग्साहासींग, तांग्सा जोगलाय/जूगलाय, तांग्सा लोचांग, तांग्सा लोंगचांग, तांग्सामोकलुंग, तांग्सारेरा, तांग्सातिखाक, तांग्सायोंगलूक, तराव, तौरधरी, तावडी, तेरींचीम, तेलुगु, टेल्की खडीया, तेन्याइडी, थाडी, थाडो, ठाकरी, ठामी, थानगल, तंजाउर-मराठी, थारू, थोरी, तिब्बती, तिनान-कड, तिवा, थ्लांग्लू, टलोसाय, तोडा, टोटो, झांगसा/मोनपा, तुलु, तूत्सा, उमलडंग-खासी, उम्नायत्मर, उरली, उर्दू, वडारी, वडवाली, वागडी, वाघेरी, वैदू, वैपेयी, वंजारी, वारली, वसावी, वैट्टाकुरुमा, विलीयान, वुआंग्टू, वाडी, वांचो, वार्डींग, येनाडीगारू, येरवा, येरूकला, यिमचुंगेर, झाडी, जाँगलीन, झिमी, झेलीयांग, झो।

शेष भाषाओं की चर्चा या तो संक्षेप में राज्य विशेष के खण्डों में की गई है या किसी अन्य खण्ड में जो जनजातीय और समुद्रतटीय भाषाओं पर केन्द्रित है। यह विभाजन आवश्यक था क्योंकि पी.एल.एस.आई. समूह को लगा कि बन्जारा या घुमन्तू जातियों की भाषाओं को किसी भी विशिष्ट राज्य में कोई जगह नहीं मिली है क्योंकि किसी मात्र एक राज्य को उन्हें शामिल करना वास्तविकता से हटकर लगा होगा। इसलिए उनको राज्य विशेष की भाषाओं के अन्तर्गत शामिल करने से बचा लिया गया।

यदि हमने हर भाषा को एक राज्य से जोड़कर देखा होता तो इस प्रकार का भाषा वर्गीकरण पी.एल.एस.आई. को करना पड़ता।

असम (52), अरुणाचल प्रदेश (76), अण्डमान एवं निकोबार प्रायद्वीप (18), आन्ध्र प्रदेश (21), बिहार (21), छत्तीसगढ़ (16), गुजरात; दमन एवं द्वीव, दादर तथा नगर हवेली (57), गोवा (7), हरियाणा (7), हिमाचल

प्रदेश (25), जम्मू एवं कश्मीर (18), झारखण्ड (21), कर्नाटक (28), केरल एवं लक्ष्यद्वीप (29), महाराष्ट्र (49), मध्य प्रदेश (27), मणिपुर (29), मेघालय (37), मिजोरम (19), नागालैण्ड (17), उड़ीसा (40), पाण्डिचेरी (4), पंजाब/चण्डीगढ़ (10), राजस्थान (35), सिक्किम (16), तमिलनाडु (24), त्रिपुरा (10), उत्तरप्रदेश (25), उत्तराखण्ड (16), पश्चिम बंगाल (28)।

किन्तु साथ-साथ हमें इस तरह का वर्गीकरण क्यों करना पड़ा इसके लिए निम्नलिखित टिप्पणी देना भी आवश्यक बनता है-

टिप्पणी- जब राज्यों में भाषाओं की संख्या का निर्धारण किया जाता है तब यह ध्यान रखना आवश्यक है कि देश की लगभग 2.5 प्रतिशत भाषाएँ सभी राज्यों में बोली जाती हैं- इनमें अनुसूचित भाषाएँ और अंग्रेजी भी शामिल हैं, इसी प्रकार शेष भाषाओं जैसे 15 प्रतिशत भाषाएँ दो या अधिक राज्यों में बोली जाती हैं तथा 30 प्रतिशत भाषाएँ एक से अधिक राज्यों में बोली जाती हैं। जो आंकड़े दिए गए हैं उनमें उनके राज्येतर विस्तार को ध्यान में रखा गया है। जबकि पी.एल.एस.आई. में दिए गए आंकड़े इस बात को ध्यान में रखकर बनाए गए हैं कि सभी गैर अनुसूचित भाषाएँ तथा प्रत्येक राज्य में बोली जाने वाली मुख्य अनुसूचित भाषाएँ सम्बन्धित खण्डों में दी गई हैं। यहां एक भाषा एक ही राज्य के लिए निर्धारित है।

परन्तु इस तरह की टिप्पणी यह स्पष्ट करती है कि जैसा विभाजन भारतीय भाषाओं के वास्तव का यथार्थ चित्रण दे नहीं सकता। यह ध्यान में रखते हुए हमने इस सर्वेक्षण में भाषाओं की भौगोलिक सीमाओं को व्यवस्थापन की दृष्टि से नहीं, लेकिन बोलनेवालों की नजर से देखा है।

पी.एल.एस.आई. को थोड़ा अधिक यथार्थपरक बनाने के लिए हम प्रत्येक जीवन्त भाषा को किसी एक या दूसरे राज्य विशेष के खण्ड में शामिल करने से बचे हैं। हमें कहना होगा कि पी.एल.एस.आई. की टीम ने अपनी रिपोर्ट बनाते समय पूरा प्रयास किया कि निर्धारित समय और उपलब्ध संसाधनों में जितनी भी भाषाओं को शामिल किया जा सके उन्हें करें। मुझे लगता है कि अभी भी लगभग सौ जितनी भाषाएँ ऐसी होंगी जिन्हें पी.एल.एस.आई. के खण्डों में शामिल नहीं किया जा सका। जैसे ही पी.एल.एस.आई. को उनके सन्दर्भ में जानकारी मिलेगी उसे पूरक खण्डों में प्रकाशित कर दिया जाएगा। इसी प्रकार, यदि अनजाने में भी कुछ तथ्यपरक त्रुटियां होंगी तो उसे भी पूरक खण्डों के पुन: प्रकाशन के समय सुधार दिया जाएगा। हम यह दावा नहीं करते कि पी.एल.एस.आई में जो रिपोर्ट दी गई है वह पूर्ण और अन्तिम है। जिस परिस्थिति में मेरे सहकर्मी अभ्यासकों को यह सर्वेक्षण करना पड़ा। उसे ध्यान में रखते हुए हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि इन खण्डों को और सुधारने और समय-समय पर संशोधन की आवश्यकता होगी। उसके आधार पर हमारे दौर की जीवन्त भारतीय भाषाओं के लिए आधार रेखा (base line) बन सकेगी।

4 भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण प्रक्रिया

मैंने 1970 के दशक के आखिरी वर्षों में 1971 की जनगणना की मातृभाषा के आंकड़ों को देखा और यह देखकर मैं हतप्रभ हो गया कि 1961 की जनगणना के आंकड़ों में दर्ज मातृभाषाओं की कुल संख्या 1652 थी जो कि 1971 में घट कर सिर्फ 108 रह गई। 1971 की जनगणना के आंकड़ों में 109वें क्रम पर लिखा था, 'अन्य सभी भाषाएँ'। इन 'अन्य सभी' के अन्तर्गत डेढ़ हजार मातृभाषाएँ 1980 के दशक से पर्दे के पीछे धकेल दी गईं। इसके बाद, मेरा समय *आफ्टर एम्नीशिया : ट्रेडीशन एण्ड चेंज इन इण्डियन लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म* (1992/2009 ओरियंट ब्लैकस्वॉन) के लेखन में लग गया। पुस्तकाकार प्रकाशित उस निबन्ध में मैंने तर्क दिया कि भारतीय इतिहास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक तत्त्व था, पिछले हजार वर्ष में अनेक भाषाओं का उदय और उनका सतत विकास। यह एक ऐसा तत्त्व था जिसे ज्ञान और संस्कृति पर हुए औपनिवेशिक प्रभाव ने हमें भुलवा दिया अर्थात् वही स्मृतिलोप था। 1996 में मैंने तय किया कि बड़ौदा विश्वविद्यालय छोड़ दूं। ऐसा करने के बाद मैं तेजगढ़ के आदिवासी गांवों में अपना कार्य करने चला गया। इसके बाद चौदह वर्षों तक शोध करने और भावी सम्भावना तलाशने के बाद मैंने पी.एल.एस.आई. का प्रस्ताव 2010 में किया।

2010 से बहुत सी विमर्श बैठकें, कार्यशालाएँ तथा संगोष्ठियां देश के विभिन्न हिस्सों में आयोजित की गईं जिससे सहयोगियों के समुदाय गठित किए जा सके, उनको प्रशिक्षित किया जा सके तथा सामग्री का संकलन हो। यदि सभी बैठकों, संगोष्ठियों की पूरी सूची इनमें शामिल हर एक सहयोगी के नाम के साथ देने के बारे में मैंने सोचा होता तो लगभग 50 पृष्ठ इस खण्ड में और जुड़ जाते। फिर भी, यह बताना ज़रूरी है कि हिमाचल प्रदेश के लोग कुल्लू और शिमला में, जम्मू-कश्मीर के जम्मू में, उत्तराखण्ड के मसूरी, नैनीताल तथा देहरादून में, पंजाब के पटियाला और चण्डीगढ़ में, उत्तर प्रदेश के लखनऊ और इलाहाबाद में, मध्य प्रदेश के भोपाल और इन्दौर में, राजस्थान के अजमेर, जयपुर, कोटा तथा उदयपुर में, गुजरात के बड़ौदा, तेजगढ़, सतपुड़ा, चोरवाड़ तथा राजकोट

और अहमदाबाद में, दादर एवं नगर हवेली के सिलवासा में, महाराष्ट्र के पुणे एवं कोल्हापुर में, गोवा के पंजिम में, कर्नाटक के धारवाड़ एवं बैंगलोर में, तमिलनाडु के चेन्नई में, केरल के कोच्चि, कासरगोढ़ तथा कोट्टयम में, अण्डमान प्रायद्वीप के पोर्ट ब्लेयर में, तेलंगाना के हैदराबाद में, उड़ीसा के पुरी तथा भुवनेश्वर में, छत्तीसगढ़ के रायपुर में, झारखण्ड के रांची में, पश्चिम बंगाल के मिदनापुर तथा कोलकाता में, असम के गुवाहाटी में, पूर्वोत्तर के शिलांग, अगरतला, कोहिमा, दीमापुर तथा आइजोल में तथा दिल्ली और पाण्डिचेरी में बैठकें हुईं। विगत सत्रह वर्षों से मैं बसों, रेलगाड़ियों तथा हवाई जहाजों और नावों से यात्रा करते हुए गांववासियों, स्कूल के अध्यापकों, पत्रकारों, विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों, साधारण लोगों तथा उन सबसे जो भाषा के विषय में दिलचस्पी रखते हैं, बात करके उनकी बात सुनता, समझता, लिखता तथा व्याख्या एवं मूल्यांकन करता रहा और भारत की भाषायी स्थिति के बारे में विचारों का आदान-प्रदान करता रहा।

इस प्रक्रिया में वृहद कार्य के लिए बड़ी संख्या में लोगों की भागीदारी उत्साहवर्धक रही। पाठकों के साथ यह जानकारी साझा करना चाहता हूं कि मेरे साथ इतने लोग क्यों जुड़े। मैं पी.एल.एस.आई. के अभिलेखों से कुछ साक्ष्य प्रस्तुत करना चाहता हूं। बहुत बड़ी टीम के साथ ई-मेल सूचनाओं का आदान-प्रदान हजारों की संख्या में हमारे अभिलेखों में मौजूद हैं। मसौदों के हजारों पृष्ठ भी हैं। बड़ी संख्या में मीडिया रिपोर्ट जो आरम्भिक वर्षों में तेजगढ़ में मेरे कामकाज को लेकर छपती रहीं, वे भी हैं तथा विभिन्न तबकों में जब इसका दस्तावेजीकरण होता रहा तब अनेक मीडिया रिपोर्ट्स भी रहीं हैं। ये सारी सामग्री दिल्ली की नेहरु मेमोरियल लाइब्रेरी में जमा कर दी गई है जिसे आवश्यकतानुसार ही कोई पढ़ सके। मेरे लिए यह तो सम्भव नहीं है कि अभिलेखों में जो कुछ मौजूद है उसका पूरा नमूना दिया जाए पर यह सम्भव हो सकता है कि सितम्बर 2012 में आई.सी.एस.एस.आर, दिल्ली में आयोजित कार्यशाला के कुछ वक्तव्यों को उन दस्तावेजों से निकालकर रख दिया जाए। ये वक्तव्य उस समय तक तैयार खण्डों की समीक्षा के लिए संकलित किए गए थे।

असम

मैं बिभा भराली (Bibha Bharali), असमिया विभाग, गुवाहाटी विश्वविद्यालय में एसोसिएट प्रोफेसर हूं। मैंने गुवाहाटी विश्वविद्यालय से 'A Comparative Study of the Local Varieties of Kamrupi Dialect, a Dialect of Assamese' विषय पर शोध कार्य के लिए पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की। मेरी विशेष अभिरुचि का क्षेत्र है बोली विज्ञान तथा कोश रचना।

मैं बनानी चक्रवर्ती (Banani Chakravarty), असमिया विभाग में गुवाहाटी विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर हूं। मैंने 'Social History of Modern Assamese Vernacular in the Nineteenth Century' विषय में पीएच. डी. की तथा मेरी विशेष अभिरुचि का विषय है सामाजिक भाषा विज्ञान तथा भाषा विज्ञान या भाषाओं का सामाजिक इतिहास।

मैं अम्बेश्वर गोगोई (Ambeswar Gogoi), असमिया विभाग, असम विश्वविद्यालय के दीफू परिसर, दीफू, करबी, अनगलांग, असम में सहायक प्रोफेसर हूं। मैंने 'Modern Assamese Literature' विषय पर शोध कार्य के लिए पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

मैंने जब पी.एल.एस.आई. के बारे में सबसे पहले सुना तब से काफी दिन बीत गए हैं। 2011 के मध्य में एक बार हमलोग गुवाहाटी विश्वविद्यालय में गणेश देवी से मिले। उनको परियोजना पर कार्य करने के लिए कुछ लोगों की जरूरत थी। परियोजना के विषय में विस्तार से जानने के बाद हमलोगों की दिलचस्पी बढ़ी और हमने उनके

साथ काम करना चाहा। कुछ दिन बाद हम बड़ौदा में विश्वभाषा सम्मेलन में मिले और हमने परियोजना से जुड़ने का फैसला किया। असम बहुभाषी प्रदेश है जिसमें बहुत से नृतत्त्व समूह (ethnic groups) हैं जो विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। अंग्रेजी शासन काल में बहुत मूल्यवान भाषायी सर्वेक्षण हुआ। यद्यपि, भाषाओं का व्यवस्थित विश्लेषण अभी भी होना बाकी है। एक समय के बाद ऐसा हुआ कि जिन भाषाओं के बोलने वाले कम थे उन पर बहु संख्य लोगों की भाषाओं से खतरा मंडराने लगा। अब वे लुप्तप्राय: हो गई हैं। इसलिए ऐसा लगा कि पी.एल.एस.आई. जैसी परियोजना से इन भाषाओं को लाभ होगा। पी.एल.एस.आई. की परियोजना में हमारे कार्य से प्रदेश की भाषाओं का संक्षिप्त विवेचन करने में तथा भावी शोधार्थियों को इन भाषाओं के विषय में शोध कार्य में सहायता एवं सुझाव प्राप्त होगा। पी.एल.एस.आई. के असम से सम्बन्धित अधिकांश सदस्य विश्वविद्यालय और कॉलेज के प्राध्यापक हैं। उनमें से कुछ भाषा के अध्यापक नहीं हैं। वे इतिहास तथा राजनीति जैसे विषय पढ़ाते हैं, यहां तक कि विज्ञान के अध्यापक भी इस में शामिल हैं। कुछ स्कूल के अध्यापक हैं, कार्यालय सहायक और अभियन्ता हैं। इस प्रकार पी.एल.एस.आई. के असम सम्भाग से जुड़े लोग अनेक विभागों से हैं। यद्यपि, कुछ लोग अपना काम पूरा नहीं कर पाए तो सम्पादकों ने स्वयं कार्य पूरा किया।

विश्वभाषा सम्मेलन (Global Language Meet) में शामिल होने के बाद 19 फरवरी 2012 को हमने एक कार्यशाला आयोजित की। पी.एल.एस.आई. के अध्यक्ष गणेश देवी तथा असम इकाई से जुड़े लोग पूर्ण मनोयोग से इसमें शामिल हुए। इसके बाद 26 तथा 27 अप्रैल 2012 को गणेश देवी की अध्यक्षता में दो दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स एण्ड टेक्नोलॉजी, कम्प्यूटर साइन्स विभागाध्यक्ष गुवाहाटी विश्वविद्यालय के शेखर सरमाह ने विभाग में हुई कार्यशाला में अपना पूरा सहयोग प्रदान किया। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग ने अधिकांश सम्पादकीय कार्यों में सहयोग किया। असम विश्वविद्यालय के दिफु (Diphu) परिसर से भी कुछ सहयोग मिला।

असमिया भाषा पर पूरा एक खण्ड प्रकाशित करने का यह पहला प्रयास है। यह खण्ड इन कारणों से महत्त्वपूर्ण है।

- यह बहुत से लोगों को अपनी मातृभाषाओं को फिर से खोजने का अवसर प्रदान करेगा।
- बहुत से समुदायों और भाषाओं के अस्मिता संकट को सुलझाने में मदद करेगा।
- नृतत्त्व समूहों की भाषाओं की विशेषताओं को रेखांकित करने में सहायक होगा।
- भाषा की गरिमा को संरक्षण प्रदान करने में सहायक होगा।
- भाषिक एकता लाने में मदद करेगा।
- भाषा सर्वेक्षण करने और विभिन्न भाषाओं के अध्ययन में सहायक होगा।
- विभिन्न समुदायों की सांस्कृतिक/साहित्यिक धरोहरों को संरक्षण प्रदान करने में मदद करेगा।

इस खण्ड में हमने उन सभी भाषाओं के बारे में लेख शामिल किए हैं, 2001 की जनगणना के अनुसार जिसके 500 से अधिक बोलने वाले हैं। इस खण्ड में असम की ये अनुसूचित भाषाएँ शामिल हैं – असमिया, बोडो, नेपाली, मणिपुरी तथा बांग्ला। इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक है कि असमिया भाषा की कई बोलियां हैं जो पूरे प्रदेश में बोली जाती हैं जिसने इसकी विविधता और महत्त्व निर्माण में बहुत योगदान किया है। इसलिए यह महसूस किया गया कि इन बोलियों तथा असम की अन्य बोलियों को खण्ड में शामिल किया जाए। भाषाएँ तथा बोलियां देश के महत्त्वपूर्ण संसाधन हैं। इन संसाधनों की सुरक्षा देश को समृद्ध करती है तथा वैश्विक पटल पर इसकी विशिष्टता

को रेखांकित करती है। यद्यपि, कार्य पूरा हो जाने पर हमें काफी सन्तोष हो रहा है किन्तु हम पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि कुछ भाषाओं पर आधारित लेखों को इस खण्ड में शामिल नहीं किया जा सका।

जम्मू-कश्मीर, पंजाब तथा हरियाणा

व्यक्तिगत विवरण

मैं ओंकार कौल (Omkar Koul) हूं। मेरा जन्म जम्मू-कश्मीर के कुलगाम जिले के बुगम में हुआ था। जहां तक मेरी शैक्षिक योग्यता का सवाल है, मैं एम.ए. (हिन्दी) तथा एम.ए. (भाषा विज्ञान) और पीएच.डी. हूं। मैंने जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय, के.एम. इन्स्टीट्यूट ऑफ हिन्दी स्टडीज एण्ड लिंग्विस्टिक्स, आगरा विश्वविद्यालय, तथा इलिनोय विश्वविद्यालय, केपगन, अमेरिका में अध्ययन किया। अमेरिका से भारत लौटने के बाद मैंने प्राचार्य, पूर्वोत्तर क्षेत्र (सी.आई.आई.एल.) पटियाला (1971-1987), प्रोफेसर, भाषा संकाय, एल.बी.एस. नेशनल एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी (1987-1994), प्रोफेसर एवं उपनिदेशक, सी.आई.आई.एल. मैसूर (1994-1999) तथा निदेशक, सी.आई.आई.एल, मैसूर (1999-2000) के रूप में कार्य किया।

मेरी विशेष अभिरुचि का क्षेत्र है भाषा विज्ञान, भाषा शिक्षा, संप्रेषण तथा तुलनात्मक साहित्य। मेरी 50 से ज्यादा पुस्तकें प्रकाशित हैं जिनमें मौलिक, संयुक्त लेखन, सम्पादित तथा, सह-सम्पादित पुस्तकें शामिल हैं और देश के तथा अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं और सम्पादित पुस्तकों में लगभग 150 लेख प्रकाशित हैं। मैं डनवुडी प्रेस, अमेरिका द्वारा प्रकाशित भारतीय भाषाओं की पुस्तक श्रृंखला का सम्पादक हूं (2001), *साउथ एशियन लैंग्वेज रिव्यू* (1990) का सम्पादक तथा 2009 से कश्मीर में प्रकाशित हो रही त्रयमासिक साहित्यिक पत्रिका *वाख* का सम्पादक हूं। मैं यूनेस्को के विभिन्न कार्यक्रमों से जुड़ा रहा हूं जो अफ्रीकी देशों की भाषा नीति, संकटग्रस्त भाषाएँ, मातृभाषा शिक्षा, बहुलतावादी समाज तथा साइबर स्पेस से जुड़े रहे हैं।

भाषा रिसर्च सेण्टर (भाषा शोध केन्द्र) तथा पी.एल.एस.आई. से मेरा सम्बन्ध

मैं भाषा रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन सेण्टर, उसकी सक्रियता तथा आदिवासी शिक्षा में उसकी सक्रिय भागीदारी से परिचित था। मैंने 1997 में गणेश देवी को इण्डिया इन्टरनेशनल सेण्टर में इस सन्दर्भ में बोलते हुए सुना था और इसके बारे में रिपोर्ट पढ़ी थी किन्तु 2010 के पहले वहां जाने का अवसर नहीं मिला।

भाषा सम्मेलन (Bhasha Conclave)

बी.आर.पी.सी. द्वारा आयोजित भाषा सम्मेलन में मार्च, 2010 में मुझे शामिल होने के लिए आमंत्रित किया गया था। वहां शिक्षाशास्त्रियों, सक्रिय कार्यकर्ताओं सहित लगभग 300 भारतीय भाषाओं के 700 से अधिक प्रतिनिधि शामिल थे। यह आयोजन एक पार्क में हुआ जहां विद्वानों और भाषा के सक्रिय कार्यकर्ताओं ने अपने विचार प्रस्तुत किए तथा स्वर्गीय रामदयाल मुण्डा तथा उनके समूह के लोगों ने आदिवासी नृत्य प्रस्तुत किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम स्थल तक आने के मार्ग में कोई एक किलोमीटर लम्बा जुलूस भी निकला था जिसमें 300 भाषाओं में लिखी पट्टियां लहरा रहीं थीं। अगले दिन आदिवासी एकेडमी, तेजपुर जाने का अनुभव रोमांचक था। हम सभी ने एकेडमी के प्रांगण में हर एक भाषा के नाम पर एक-एक पौधे लगाए। हमने एक पौधा लगाया और वहां लिखा कश्मीरी, उस पौधे के साथ अपना फोटो भी खिंचवाया। (जब मैं दुबारा मार्च 2012 में तेजगढ़ गया तो यह देखकर खुश हुआ कि जो पौधा मैंने लगाया था वह बड़ा हो गया है तो वहीं खड़े होकर दूसरी बार फोटो खिंचवाया)।

आयोजकों ने विभिन्न समूहों में परस्पर सम्वाद के लिए प्रतिभागियों को विभक्त कर दिया। मुझे अवसर मिला कि विभिन्न जनजातीय भाषाओं के तीस लोगों के साथ बातचीत कर सकूं और उनकी अपनी भाषा के बारे में क्या राय है, यह जान सकूं। मेरा आदिवासी लोगों के साथ मिलने का पहला अवसर था जो उसके मूल भाषी हैं। इससे मुझे आदिवासी भाषाओं के विकास के लिए शुरू की गई परियोजना के साथ काम करने की प्रेरणा मिली। समापन सत्र में अगले दिन प्रस्ताव किया गया कि भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण किया जाए, संयोग से मैं उस समय नहीं मौजूद रह सका।

पी.एल.एस.आई. (भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण)

भाषा सम्मेलन के कुछ ही दिनों बाद मुझे गणेश देवी का एक पत्र मिला जिसमें मुझे तथा आर.के. भट्ट को कश्मीर पर संयुक्त रूप से लिखने के लिए कहा गया और यह भी कहा गया कि मैं मई, 2010 में कुल्लू और केलांग में पांच दिवसीय कार्यशाला में शामिल होऊं। उन्होंने हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड तथा दार्जिलिंग की सभी भाषाओं के प्रतिनिधियों को बुलाया था। हमलोग कुल्लू गए और परियोजना पर संक्षेप में चर्चा की। अगले दिन हम मनाली और रोहतांग पास से होते हुए केलांग गए। वहां जाते समय एक बर्फीले पहाड़ से गुजरना पड़ा। केलांग पहुंचने में लगभग छः घण्टे लगे। एक सरकारी होटल में रहने की व्यवस्था थी। बहुत ठण्ड थी, बर्फीली हवा चल रही थी। अगले ही दिन सुबह बर्फ गिर पड़ी यह हमारे लिए सुखद आश्चर्य था। हर जगह बर्फ ही बर्फ थी। हम सभी ने इसका भरपूर आनन्द उठाया।

होटल के लॉज में एक छोटी बैठक हुई। उसके बाद हमलोग लाहौल-स्पिति आदिवासी संग्रहालय चले गए- यहीं कार्यशाला होनी थी। भाषा रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन सेण्टर की एक पहल 'हिमलोक' ने संग्रहालय की देखभाल की जिम्मेदारी ले ली थी और उसने इसको आधुनिक और आकर्षक बना दिया था। कार्यशाला में हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड तथा दार्जिलिंग की प्रविष्टियों की प्रस्तुति देने और सबको सुनने के बाद गणेश देवी के अनुरोध पर मैंने कुछ प्रतिभागियों द्वारा तैयार की गई प्रविष्टियों को देखा और कुछ सुझाव दिए। तिब्बती, बर्मा भाषा परिवार की स्थानीय भाषाओं की कुछ विशेषताएं बहुत ही रोचक लगीं। उस कार्यशाला के बाद परियोजना पर गम्भीरता से कार्य होना शुरू हो गया।

पंजाब तथा हरियाणा की भाषाओं पर कार्यशाला

पंजाब और हरियाणा की भाषाओं पर दो दिवसीय कार्यशाला भाषा विज्ञान विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला में जून 2010 में हुई। उसमें लगभग 15 प्रतिभागी थे। जोगा सिंह (Joga Singh) स्थानीय समन्वयक थे। पंजाबी विश्वविद्यालय के कुलपति जसपाल सिंह (Jaspal Singh) ने इसका उद्घाटन किया। गणेश देवी ने परियोजना के बारे में विस्तार से बताया। मैंने प्रविष्टियों के प्रारूप के विषय में बताया। हमने उन भाषाओं को चिन्हित किया जिन पर प्रविष्टियां लिखी जानी थीं। सभी उत्साहित दिखे और बहुत से प्रतिभागियों ने प्रविष्टियां लिखने की सहमति दी। दुर्भाग्य से वे वायदे पूरे नहीं हो सके क्योंकि स्थानीय समन्वयक प्रतिभागियों से प्रविष्टियां लिखवाकर भेज नहीं पाए।

राजस्थान

मैं 25 से 27 जनवरी 2011 तक राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय किशनगढ़, राजस्थान में एक कार्यशाला में शामिल हुआ। कार्यशाला में परियोजना का स्पष्ट खाका तैयार किया गया। तब तक तैयार हुई प्रविष्टियों की विषयवस्तु को

देखते हुए मैं इस बात से सन्तुष्ट नहीं था कि इस परियोजना का शीर्षक भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण हो। अभी भी मैं चाहता हूं कि परियोजना का शीर्षक भाषा सर्वेक्षण हो न कि भाषिक सर्वेक्षण। पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे शीर्षक को किशनगढ़ में यह कहकर उचित ठहराया गया था कि यह लोगों की या देशज (मूल) भाषियों की अपनी भाषाओं के बारे में धारणा को पेश करने जा रहा है न कि भाषा वैज्ञानिकों की भाषाओं के बारे में अवधारणा को। इस कार्यशाला में डी.पी. पट्टनायक (D.P. Pattanayak) और गणेश देवी (Ganesh Devy) ने इस बात पर बल दिया था और यह परियोजना के शीर्षक के औचित्य निर्धारण की कसौटी बना था।

कहा गया कि पी.एल.एस.आई. भारतीय भाषाओं के राष्ट्रीय सर्वेक्षण के एक अधिकार पर आधारित आन्दोलन है जिसमें जनता की भाषाओं के बारे में धारणा, भाषाओं की पहचान तथा उनका दस्तावेजीकरण और उन्हें समझना है। यह भी कहा गया कि पी.एल.एस.आई. ग्रियर्सन के लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया (भारत का भाषायी सर्वेक्षण) की आवृत्ति, विकल्प, विस्थापना अथवा उस श्रृंखला की कोई कड़ी नहीं है, न ही यह प्रत्येक मौजूदा भारतीय भाषा का विस्तृत सर्वेक्षण, चयनित सर्वेक्षण या जनगणना के सर्वेक्षण का हिस्सा है या फिर भारतीय भाषा समूहों के मानकीकरण अथवा लेखन या वाक् का निर्धारण है। इसी कार्यशाला में उद्देश्यों को रेखांकित किया गया, जिसे बाद में संशोधित क्रम में प्रस्तुत किया गया।

यह कार्यशाला परियोजना के विषय में स्पष्ट मत देने, विभिन्न बिन्दुओं पर सहमति बनाने तथा खण्डों के विभाजन की योजना तैयार करने की दृष्टि से बहुत उपयोगी रही। यह भी तय हुआ था कि एक सम्पादकीय समूह का गठन हो जिसे विभिन्न खण्डों के सम्पादन का उत्तरदायित्त्व दिया जाए।

सम्पादकीय समूह का सदस्य

मुझे पी.एल.एस.आई. के सम्पादकीय समूह का सदस्य बनाया गया और आर.के. भट्ट (R.K. Bhat) के साथ जम्मू-कश्मीर, पंजाब और हरियाणा के लिए संयुक्त रूप से प्रस्तावित खण्ड का सम्पादक बनाया गया। हमने यह जिम्मेदारी ली और विभिन्न विद्वानों की पहचान करके इस खण्ड के लिए प्रविष्टियां तैयार करने को कहा।

श्रीनगर की बैठक

मैं 14 से 16 नवम्बर, 2011 को जम्मू-कश्मीर की आदिवासी और हाशिए की भाषाओं पर आयोजित एक सेमिनार में शामिल होने के लिए श्रीनगर गया जो भाषा विज्ञान विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय द्वारा सी.आई.आई.एल. मैसूर के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित किया गया था। मुझे शोधार्थियों तथा भाषा वैज्ञानिकों के साथ एक बैठक करने का अवसर मिला जो प्रदेश की हाशिए की भाषाओं पर शोध कर रहे थे। मैंने पी.एल.एस.आई. के उद्देश्यों और प्रारूपों पर उनसे बात की और ऐसी कुछ भाषाओं पर प्रविष्टियां मांगी। ऐसे लोगों को चिन्हित किया गया जो शीना, शेखगल पोगुली एवं सिराजी पर प्रविष्टियां लिख सकते थे। मैंने इन भाषाओं के कुछ आंकड़े देखे जिन पर वे शोध कार्य कर रहे थे। उन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि वे प्रविष्टियों के लिए कुछ और आंकड़े इकट्ठे करेंगे।

मैंने जावेद राही (Javed Rahi) के साथ जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति एवं भाषा एकेडमी श्रीनगर में बैठक की और उनसे कहा कि गोजरी पर एक प्रविष्टि लिखें। मैं वीना गुप्ता, उपदेश कौर और प्रीतम कौल (Veena Gupta, Updesh Kour and Pritam Kaul) से मिला। ये लोग जम्मू से हैं। इनसे डोगरी, पुंची तथा भदरवाही पर लिखने के लिए कहा। एक व्यक्ति की सहायता से सूचना इकट्ठी कर फील्डवर्क करने के बाद मैंने कथावारी पर एक प्रविष्टि लिखी।

जम्मू में कार्यशाला

जम्मू-कश्मीर की भाषाओं पर एक कार्यशाला जम्मू विश्वविद्यालय के पंजाबी विभाग में 26-27 नवम्बर, 2011 को हुई। उपदेश कौर स्थानीय समन्वयक थी। कार्यशाला में लगभग दस विद्वान भाग लिए। गणेश देवी ने पी.एल.एस. आई. के उद्देश्यों को बताया तथा मैंने जम्मू-कश्मीर राज्य का भाषिक परिचय दिया तथा प्रविष्टियों को तैयार करने का प्रारूप स्पष्ट किया। पुंची, भदरवाही तथा गोजरी की प्रविष्टियां क्रमशः उपदेश कौर, प्रीतम कौल तथा जावेद राही ने प्रस्तुत कीं। इन प्रविष्टियों पर चर्चा हुई तथा उनमें सुधार के लिए सुझाव दिए गए। वीना गुप्ता ने डोगरी के लिए एक प्रविष्टि तैयार की तथा उस पर मुझसे चर्चा की, जब वे दिल्ली में दिसम्बर 2011 में आईं थीं।

बड़ौदरा में भाषा भारती सम्मेलन

बी.आर.पी.सी. ने बड़ौदरा में 7-8 जनवरी, 2012 को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करने का फैसला किया। भारत के विभिन्न प्रदेशों तथा विदेश से भारी संख्या में लोगों ने भाग लिया। जिसमें 900 से अधिक भाषाएँ चिन्हित की गईं। भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय सचिव ने इसका उद्घाटन किया। इस अवसर पर विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं की प्रविष्टियों के लगभग 15 खण्डों के मसौदे का विमोचन हुआ। मुझे एक खण्ड में जम्मू-कश्मीर की भाषा को प्रविष्टियों का मसौदा तैयार करने के लिए कहा गया था। इस खण्ड का प्रारम्भिक मसौदा भी वहां उद्घाटन सत्र में विमोचन में शामिल था जिसमें कश्मीर, भदरवाही, शीना, कश्तवाई तथा शेखगल शामिल हैं।

गणेश देवी ने तय किया था कि जम्मू-कश्मीर, पंजाब तथा हरियाणा की भाषाओं को एक ही खण्ड में प्रकाशित किया जाएगा जिसका सम्पादन मैं और आर.के. भट्ट (R.K. Bhat) करेंगे।

सम्पादकीय समूह की बैठक

सम्पादकीय समूह की बैठक फरवरी 2012 में आई.सी.एस.एस.आर. दिल्ली में हुई। विभिन्न राज्यों के सन्दर्भ में परियोजना की प्रगति का एक आकलन किया गया। देवी ने प्रविष्टियों के सन्दर्भ में तैयारी और विचार-विमर्श के लिए कार्यशालाओं की योजना का विवरण दिया। अरबी और फारसी से सम्बन्धित प्रविष्टियों की तैयारी पर भी चर्चा हुई।

बिहार की भाषाओं पर कार्यशाला

मैं मार्च 2012 में पटना विश्वविद्यालय में बिहार की भाषाओं पर कार्यशाला में शामिल हुआ। कार्यशाला में लगभग 30 प्रतिभागी शामिल हुए। रामशंकर आर्य इसके समन्वयक थे। गणेश देवी ने पी.एल.एस.आई. के उद्देश्यों को सामने रखा तथा मैंने प्रवृष्टियों के प्रारूप को प्रतिभागियों के सामने रखा। बिहार की भाषाएँ चिन्हित की गईं तथा उस खण्ड में जो लोग प्रविष्टियां लिखेंगे उन विद्वानों की एक सूची बनाई गई।

पूर्वोत्तर की भाषाओं पर कार्यशाला

मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, नागालैण्ड, सिक्किम, मणिपुर तथा त्रिपुरा जैसे पूर्वोत्तर के राज्यों की भाषाओं पर एक कार्यशाला, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग में अप्रैल 2012 में आयोजित की गई। कार्यशाला में लगभग चालीस लोगों ने भाग लिया। ईस्थर स्याम (Esther Syiem) इसकी स्थानीय समन्वयक थीं। पूर्वोत्तर के प्रदेशों की भाषाओं से सम्बन्धित प्रविष्टियों की प्रगति की समीक्षा की गई। त्रिपुरा, मणिपुर तथा सिक्किम की भाषाओं की नई प्रविष्टियां तैयार की गईं और उन पर चर्चा हुई।

जम्मू-कश्मीर, पंजाब तथा हरियाणा की भाषाओं पर खण्ड

जैसा कि पहले भी कहा गया कि पंजाब और हरियाणा की भाषाओं पर प्रविष्टियों की तैयारी के लिए दो दिवसीय कार्यशाला पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला में जून 2010 में हुई किन्तु हमें प्रतिभागियों से प्रविष्टियां नहीं मिलीं। इन राज्यों की प्रविष्टियों के सम्पादन की जिम्मेदारी मिलने के बाद मैंने पंजाब और हरियाणा के कुछ विद्वानों से इन प्रविष्टियों को तैयार करने का अनुरोध किया। मुझे, पंजाबी में लिखी मांझी और मालवी पर प्रविष्टियां मिलीं जो पंजाबी की दो क्षेत्रीय भाषाएँ हैं।

इसी बीच आयोजकों ने निर्णय किया कि अनुसूचित (मुख्य) भाषाओं से सम्बन्धित विस्तृत प्रविष्टियां थोड़े भिन्न प्रारूप में लिखी जाएं और उनमें साहित्य, अनुवाद, भाषिक कार्यों से सम्बन्धित अतिरिक्त सूचनाएं दी जाएं। मैंने पंजाबी पर पूरी प्रविष्टि लिखने के लिए सुखविंदर सिंह (Sukhwinder Singh) से कहा और यह भी कहा कि मांझी और मालवी की लघु प्रविष्टियों का उपयोग करके वे ऐसा कर लें। वे तैयार तो हो गए किन्तु समय से काम पूरा नहीं कर सके। बाद में मैंने आर.के. भट्ट तथा हिना नन्दराजोग (Hina Nandrajog) से इस प्रविष्टि के लिए काम करने को कहा और उन्होंने उसके कुछ भाग तैयार किए। भट्ट ने साहित्य, अनुवाद तथा गुरुमुखी लिपि से सम्बन्धित हिस्से लिखे जबकि नन्दराजोग ने पंजाबी से अंग्रेजी में अनुवाद के कुछ हिस्सों पर आधारित कार्य किया।

मेरे आग्रह पर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की मधु बाला (Madhu Bala) ने हरियाणवी पर प्रविष्टि तैयार की। उन्होंने राजनाथ भट्ट (Rajnath Bhat) के साथ मिलकर हरियाणा में हिन्दी भाषा और साहित्य की स्थिति पर एक और प्रविष्टि तैयार की। हमने हरियाणा की अन्य उन लघु भाषाओं पर प्रविष्टियां तैयार करने के लिए एक दिवसीय कार्यशाला आयोजित की, जो मुख्यत: राजस्थान में बोली जाती है किन्तु अपने प्रयासों के बावजूद हम किसी और प्रविष्टि को पूरा नहीं करवा सके।

जम्मू-कश्मीर की भाषाओं पर केन्द्रित खण्ड के लिए मैंने ताशी कोनचाक (Tashi Konchok) से अनुरोध किया कि लद्दाखी और नीलोफर वानी (Neelofar Wani) से पोगुली पर प्रविष्टि लिखने का अनुरोध किया जाए और हमने दोनों ही से प्रविष्टियां प्राप्त कर लीं।

इस खण्ड के लिए प्रविष्टियां प्राप्त करने के बाद मैंने उन्हें देखा और कुछ संशोधन किया तथा लेखकों से कहा कि कुछ संशोधन करें और कुछ अन्य बातें जोड़ दें। अभी तक मुझे लेखकों से कोई संशोधित पाठ नहीं मिला है। हमलोग एक महीने में भाषा-सम्पादक के पास इस खण्ड को भाषिक सम्पादन के लिए भेज देंगे उसके बाद प्रकाशक के पास प्रकाशन के लिए जाएगा। कुछ कार्य अभी शेष है जैसे हमें अभी खण्ड की प्रस्तावना लिखनी है तथा प्रत्येक प्रविष्टि के लिए मानचित्र तैयार करने हैं।

कुल मिलाकर यद्यपि, यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य था कि तीन राज्यों की भाषाओं पर निर्धारित समय में एक खण्ड तैयार करें, किन्तु मैं कह सकता हूं कि हमने अधिकांश कार्य सन्तोषजनक ढंग से पूरा कर लिया है। इस कार्य को समय से पूरा करने का श्रेय गणेश देवी को जाता है जिन्होंने हमें प्रेरित किया और यह सुनिश्चित किया कि हम इस कार्य लिए पर्याप्त समय दे सके।

मणिपुर

मैं निपुणी माओ (Nipuni Mao) हूं। मैं मणिपुर के सेनापति जिले के माव गांव में पला-बढ़ा जिसे साजौबा कहा

जाता है। मेरी स्कूली शिक्षा डॉन बास्को हाईस्कूल, सेनापति में हुई। मैट्रिक के बाद मैं सेण्ट एंथनी कॉलेज, शिलांग से स्नातक के लिए पढ़ा और भाषा विज्ञान में एम.ए. नेहू तथा एम.ए. अंग्रेजी ईएफएलयू के शिलांग कैंपस से किया। अभी मैं नेहू, शिलांग के कल्चरल एण्ड क्रिएटिव स्टडीज विभाग में फोकलोरिस्टिक्स में पीएच. डी. कर रहा हूं।

मैंने केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान सीआईएल मैसूर के पूर्वोत्तर भाषा विकास कार्य में स्रोत विद् के रूप में 2005 से 2010 तक कार्य किया। लोक साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण पूर्वोत्तर भारत की देशज संस्कृति से सम्बन्धित कई शोध पत्र विभिन्न राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। मैंने 'राइट्स ऑफ पैसेज इन नॉर्थ-ईस्ट इण्डिया' शीर्षक की एक पुस्तक 2010 में लिखी जो डॉन बॉस्को सेण्टर फॉर इण्डिजिनस कल्चर्स, शिलांग, मेघालय से प्रकाशित हुई है। मैं कविताएं, कहानियां तथा लोककथाएं लिखने में रुचि रखता हूं। यदि मुझे कोई अवसर मिले तो मैं लोक कथाओं और पूर्वोत्तर की संस्कृति पर लिखना चाहूंगा क्योंकि अभी इस सन्दर्भ में बहुत अनुसंधान की आवश्यकता है।

एक दिन ईस्थर स्याम ने मेरे शोध निर्देशक डेसमण्ड एल. खर्माविप्लांग (Deamond L. Kharmawphlang) को बुलाया और कहा कि वे मुझसे मिलना चाहती हैं और मैं उनसे मिलने गया। यह कोई औपचारिक साक्षात्कार नहीं था अपितु मित्रवत् मुलाकात थी और मैं अपने राज्य का समन्वयक नियुक्त हो गया। जब प्रोफेसर स्याम ने पी.एल. एस.आई. के साथ मुझे जोड़ा तो दो बातें मेरे दिमाग में आईं। मैं भारतीय नव भाषिक सर्वेक्षण (एन.एल.एस.आई.) से परिचित था जो सीआईएल, मैसूर की कल्पना थी। कुछ साल पहले इसकी अवधारणा बनाई गई किन्तु यह क्रियान्वित नहीं हो सकी। देवी के नेतृत्त्व में चल रहे भाषा शोध एवं प्रकाशन केन्द्र के द्वारा भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण एक नई परियोजना थी। उनसे कुछ साल पहले मैं मिला था इसलिए मैंने निर्णय लिया कि मैं यह कार्य करूंगा और आज यहां आपके समक्ष पी.एल.एस.आई. की टीम के एक सदस्य के रूप में मौजूद हूं।

मैं जब पहले-पहल पी.एल.एस.आई. की परियोजना से जुड़ा तभी मैंने मणिपुर में भाषा सर्वेक्षण के कार्य के आयामों को महसूस कर लिया था। अपने राज्य की अच्छी समझ के कारण मुझे यह पता था कि यद्यपि, यह भौगोलिक दृष्टि से और जनसंख्या के आधार पर बहुत छोटा राज्य है किन्तु हमें तीस भाषा समुदायों तक पहुंचने की चुनौती स्वीकार करनी होगी। यही नहीं, इसमें भारतीय उपमहाद्वीप के चार भाषा परिवार हैं- ऑस्ट्रो-एशियाटिक, द्राविडियन, इण्डो आर्यन तथा तिब्बती-बर्मन जो हमारे कार्य के लिए बड़ा आह्वान था। सौभाग्य से ऐसा हुआ कि पहले तीन भाषा परिवारों के सर्वेक्षण की हमें आवश्यकता नहीं पड़ी। मुझे लगा कि यह कठिन हो जाएगा फिर भी सीआईएल के अपने अनुभव के आधार पर मैंने समझ लिया कि क्या करना है और जल्दी ही विभिन्न भाषा समुदायों के युवा शोध छात्रों को मैंने जोड़ लिया।

मणिपुर में भाषा लोक सर्वेक्षण कराने की आवश्यकता मुख्य रूप से इसलिए है क्योंकि इसके अनेक भाषा समुदायों में अस्मिता का ह्रास, संकटग्रस्त भाषाओं के विलुप्त होने से पहले संरक्षण की तत्काल आवश्यकता तथा विश्व में इस राज्य के भाषा समुदायों की अल्प परिचित भाषाओं के विषय में जानकारी मिलेगी। राज्य के लोग अपनी अस्मिता के बारे में बहुत सजग हैं और वे तो यह बताते भी हैं कि क्यों इस राज्य में इतने भाषा-भाषी समुदाय हैं। राज्य में अभी 30 भाषाएँ हैं। हम अनुमान लगा सकते हैं कि निकट भविष्य में इन भाषाओं की संख्या 50 से अधिक होने वाली है। यह आसपास की विभिन्न भाषाओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है। समाज में व्यापक भूमिका निभाने वाली सामाजिक एवं भाषिक अस्मिताएं इस अवधारणा पर आधारित हैं, ''आप भिन्न हैं और मैं भिन्न हूं।'' दूसरे शब्दों में, हमारी अस्मिताएं जुड़ाव की अपेक्षा भिन्नता पर आधारित हैं। यही पी.एल.एस.आई. मणिपुर के विभिन्न भाषा समुदायों की विशिष्ट पहचान को रेखांकित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

मेरे सभी मित्रों ने बहुत सहायता की, कुछ ने कम और कुछ ने ज्यादा। इसके लिए, बस इतना ही करना था

कि हम उन्हें इस परियोजना की महत्ता का आभास करा सकें और उन्हें अपने समुदायों के लिए कार्य करने के लिए प्रेरित करें। मेरे साथ बहुत से मित्रों ने पी.एल.एस.आई. की परियोजना के साथ जुड़ने में मदद की। वे सब विश्वविद्यालय के शोध छात्र थे। उनमें से कुछ अच्छे और कुछ औसत किस्म के लोग थे किन्तु मैं फिर भी कहूंगा कि वे इस चुनौती को स्वीकार करने में बौद्धिक रूप से सक्षम थे। उन सभी का अपने समुदाय विशेष के विषय में अच्छा ज्ञान है। इनमें से कुछ सहयोगियों के लिए उस विषय पर लिखना जिससे कोई सरोकार नहीं था, किसी चुनौती से कम नहीं था, जबकि दूसरे लोगों के लिए अपनी भाषा में लिखना ज्यादा चुनौतीपूर्ण था। इसके अतिरिक्त, इस सर्वेक्षण के लिए आवश्यक था उनकी भाषा का भाषिक पहलू और यही उनके लिए सबसे ज्यादा कठिन था। बहुत से सहयोगियों को जार्ज ग्रियर्सन के भारत के भाषायी सर्वेक्षण की जानकारी थी। इसलिए जब उन्हें पी.एल.एस.आई. के कार्यों के बारे में बताना पड़ा तो यह बहुत कठिन नहीं था। इसके अलावा, वे पी.एल.एस.आई. के कार्यों के महत्त्व को समझते थे और जानते थे कि यह उनके अपने भाषिक समुदायों के लिए उपयोगी होगा।

पी.एल.एस.आई. हमारे राज्य में पूर्वोत्तर की समन्वयक ईस्थर स्याम के साथ सीधा सम्वाद करने की प्रक्रिया से शुरू हुआ और बाद में यह व्यापक हो गया जब पूर्वोत्तर के राज्यों के लिए देवी ने पहली कार्यशाला शिलांग में 2011 के आरम्भ में आयोजित की। वहीं पूर्वोत्तर के प्रतिनिधियों के साथ पी.एल.एस.आई. के कार्यों का प्रारूप तैयार किया गया।

अब तक मुझे किसी भी संस्था से कोई सहयोग नहीं मिला है। यह कार्य मणिपुर के निवासी तथा मित्रों की शुभकामनाओं और समर्थन तथा पी.एल.एस.आई. के अध्यक्ष तथा पूर्वोत्तर की समन्वयक के दिशा-निर्देशों के अनुरूप चल रहा है। मुझे पूरा विश्वास है कि इन सारी सहायताओं से यह कार्य सफलतापूर्वक पूरा हो जाएगा।

इस सर्वेक्षण से बहुत लाभ होने की सम्भावना है। पहली बात, तो यह कि देश की विविधता का विवरण सामने आएगा और पुस्तक श्रृंखला के रूप में वह प्रकाशित हो जाएगा, जो कि एक बड़ी उपलब्धि होगी। दूसरी बात, यह है कि पी.एल.एस.आई. के प्रयासों से किसी को कोई क्षति नहीं होने जा रही है। भारत सरकार तथा राज्य सरकार दोनों के लिए यह एक अभिलेख होगा जिसका संरक्षण वे कर सकती हैं। पी.एल.एस.आई. के आयोजकों, राष्ट्रीय सम्पादन समूह, सहयोगियों, सभी के नामों का उल्लेख इसमें किया जाएगा। भाषा समुदायों के नाम, उनकी उत्पत्ति, मिथक, इतिहास, लोक कथाएं साथ ही, लोक गीत, शब्दावली और रीति रिवाज तथा पारंपरिक नियम और प्रथाओं का भी इसमें उल्लेख किया जाएगा। आखिरी बात, यह कि मेरी दृष्टि में शोधार्थी इससे सर्वाधिक लाभान्वित होंगे। जो सूचनाएं इन खण्डों में दी जाएगी उनका दीर्घकालिक महत्त्व होगा। वर्तमान पीढ़ी इन सूचनाओं का उपयोग स्पष्ट जानकारी के लिए कर सकती है। जबकि शोधार्थी भविष्य में अपने शोध के लिए पी.एल.एस.आई. की रचनाओं पर निर्भर रह सकेंगे। इस प्रकार, संक्षेप में इसके लाभार्थियों में भारत के सभी लोग होंगे।

इस श्रृंखला की सम्भावना को स्पष्ट रूप से बता पाना कठिन है। पी.एल.एस.आई. के खण्डों का बहुआयामी प्रभाव होगा। इसका अर्थ यह कि लोग इन खण्डों पर कई दृष्टियों से विचार कर सकेंगे। हर कोई अपनी-अपनी दृष्टि से देख सकेगा। संक्षेप में कहूं तो यह पुस्तक श्रृंखला सभी की जरूरतों को पूरा करेगी।

मेघालय

मैं ईस्थर स्याम हूं। जब मैंने मेघालय के लिए पी.एल.एस.आई. समन्वयक के रूप में काम करना शुरू किया तब मुझे इससे जुड़ी समस्याओं -वास्तविक और काल्पनिक दोनों- का सामना किस रूप में करना पड़ेगा, इसको लेकर आशंका थी। भाषा विज्ञान मेरा विषय नहीं था इसलिए मैंने महसूस किया कि चूंकि मैं इससे

अपरिचित हूं इसलिए मैं इसमें अक्षम हूं। जैसे-तैसे एक टीम बनायी थी क्योंकि मैंने एक प्रतिबद्धता दिखाई थी जो मेरी व्यक्तिगत पसन्द से भिन्न थी। उसके बाद पूरी टीम के लोगों के साथ मिलकर काम शुरू कर दिया। मेरा सौभाग्य था कि मुझे ऐसी टीम मिली जो पी.एल.एस.आई. की भारत की विविध भाषिक समुदायों की अवधारणा के प्रति प्रतिबद्ध थी।

साहित्यिक पृष्ठभूमि से जुड़ी होने के कारण सम्भवत: मुझमें भाषाओं के बारे में दस्तावेजीकरण से जुड़े मुद्दों के प्रति कुछ संवेदनशीलता थी। अथवा शायद इसलिए कि मेरा सम्पर्क शिलांग शहर के भीतर और बाहर कुछ घरेलू नौकरों, खेतों के मजदूरों, रेहड़ी वालों और फूल बेचने वालों से होने के कारण ऐसा हुआ जिन्होंने अपनी भाषा कितेनशनाग का व्यापार करने से मना कर दिया, जब मैंने उनसे अपनी भाषा खासी में बात की। फिर भी जितनी बोलियों की मैंने बात सुनी उतनी मुझे यह समझने में आसानी हो गई। मेरी भाषा काफी समृद्ध है। इसके अलावा, मैं लोगों की भावनाओं को समझने की कोशिश तब से कर रही थी जब मैंने स्कूल में पहली बार यह महसूस किया कि मैं एक ऐसे समुदाय से हूं जिसका किसी अन्य समुदाय से कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। मेरा समुदाय मातृ सत्तात्मक प्रकृति का है। प्रश्न यह है कि क्या यह कोई समृद्धि है अथवा एक उत्तरदायित्व, इस सवाल का अभी तक मेरे पास कोई सही उत्तर नहीं है। किन्तु मुझे अच्छी तरह से याद है कि स्कूल में मेरे जैसे कुछ ही लोग थे जो अपनी मां का नाम लिखते थे। शायद हमलोगों को उस वर्ग में ज्यादा देशज माना जाता था। कान्वेंट स्कूल में हमारे साथ जो अलग व्यवहार किया जाता था उससे हमलोगों में ज्यादा जागरुकता आने लगी। भाषिक सम्वाद में ज्यादा सजग होकर आंख-कान लगाए रहने लगे, खासकर, जब अपनी दादी के खेत में मैं जाती थी या वे मेरे यहां आती थीं। इसके अलावा, मेरे पिता की सोहरा के बारे में कहानियों तथा जमीन से उनका जुड़ाव और उनके इर्दगिर्द घूमती कहानियों और उससे जुड़ी हर चीज मेरी याद में समाई है।

समय बीतने के साथ-साथ ज्यादा बौद्धिक जिज्ञासा बढ़ने लगी और मैं अपने अतीत को ज्यादा-से-ज्यादा जानना चाहती थी। मैं अपनी मां से खासी समुदाय के साथ मौखिक सम्वाद के बारे में सवाल करने लगी। उसके बाद, मैं अपना आदर्श ढूंढ़ने लगी और उन आदर्श व्यक्तियों से अपने को जोड़ने तथा उनसे बुनियादी तौर पर लगाव रखने लगी। मैं पी.एल.एस.आई. के कार्य को उन कार्यों का स्वाभाविक विस्तार मानती हूं जो मैं अपने समुदाय के साथ करने का प्रयास कर रही थी। इस प्रक्रिया में मैंने यह जान लिया कि मैं अकेली ऐसी नहीं हूं जो अपनी उस भाषा और संस्कृति के संरक्षण के लिए लगे हैं, जो 21वीं शताब्दी तक अकेले अपने दम पर मौखिक परम्परा में ही चली आई है। अब हम इतिहास के ऐसे मोड़ पर आ गए हैं जहां किसी भी भाषा का विस्तार और संरक्षण लिखित रूप में लिपिबद्ध करने पर ही निर्भर है।

पी.एल.एस.आई. के साथ मेरा जुड़ाव पहली बैठक से शुरू हो गया जो बड़ौदा में हुई थी और जिसमें मैं शामिल थी। इसके मुख्य सदस्यों ने पी.एल.एस.आई. 'भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण' के बारे में इतनी शिद्दत के साथ मुझे बताया कि हमलोग उसकी ओर बरबस आकर्षित हो गए। मैं पी.एल.एस.आई. के बुनियादी उसूलों के बारे में जब मेघालय के लिए जुड़े नए सदस्यों को बताने लगी तो मुझे महसूस हुआ कि यह उनमें से अधिकांश के लिए एक सपने का साकार होना था जो सरकारी एजेंसियों ने बार-बार दिखाए थे और तोड़ दिए थे। टीम के कुछ सदस्यों ने शुरू में अविश्वास जताया था किन्तु जब बड़ौदा में अन्तर्राष्ट्रीय भाषा सम्मेलन हुआ तो वे पी.एल.एस.आई. के सरोकारों पर भरोसा जताने लगे। उसके बाद से तो प्रतिबद्ध कार्यकर्ता मिल गए।

भारत की भाषाओं के बारे में दस्तावेजीकरण की बात तो छोड़ दीजिए मेघालय की भाषाओं के दस्तावेजीकरण के अनेक प्रयास अतीत में हुए किन्तु वे सब विवादों में उलझ गए और कभी भी जमीनी हकीकत नहीं बन पाए।

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यह 'भाषा संस्थान' का चमत्कार ही है कि विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं के सन्दर्भ में वह कार्य हो गया जिसे असम्भव समझा जाता था। पी.एल.एस.आई. की नैतिकता ने हमें यह सिखाया है कि हम कूटनीतिक दृष्टि से सोचें, निरर्थक विवादों में न पड़ें। इसका परिणाम यह हुआ कि मेघालय टीम को विभिन्न भाषा समुदायों से जुड़ने का अवसर मिल गया जो अपनी समानताओं, विषमताओं के बावजूद सांस्कृतिक रूप से सुसंगति के साथ देखी गई।

पी.एल.एस.आई. लोगों को अपनी भाषाओं और उसकी विविधताओं की समृद्धि के प्रति सम्वेदनशील नहीं बनाएगा अपितु स्वयं भाषा की जीवन्तता, उसकी प्राणवायु तथा उसको जीवित रखने वाले सत्त्व के प्रति भी सम्वेदनशील बनाएगा। पी.एल.एस.आई. के मेघालय खण्ड के लोकार्पण के साथ ही यह अपेक्षा की जाती है कि प्रदेश की भाषाओं का प्रभाव न केवल मुद्रित रूप में बना रहेगा अपितु लोग यह भी समझेंगे कि भाषाएँ उनका विस्तार करती हैं इसलिए वे सजीव, गत्यात्मक इयत्ता हैं जिनके विकास की तब तक आवश्यकता रहेगी जब तक कि यह विश्व है। यह इसलिए होगा क्योंकि पी.एल.एस.आई. के इस खण्ड का प्रकाशन कोई अकादमिक कार्य व्यापार नहीं है जिसका संबोध्य एक अल्पसंख्यक समुदाय है अपितु जैसा कि जी.एन. देवी ने पी.एल.एस.आई. की सभी बैठकों में कहा है कि सर्वाधिक लोकतांत्रिक तरीके से कार्य को अंजाम दिया जा रहा है। इस दस्तावेजीकरण में जमीनी स्तर की भाषाओं को जोड़ा गया है। इसलिए मैं कह सकती हूं कि मेघालय का सर्वेक्षण जनता का जुड़ाव ही प्रतिबिम्बित करता है और मुझे विश्वास है कि अन्य प्रदेशों में भी ऐसी ही स्थिति होगी। हमने हर स्तर पर लोगों को जोड़ा है, लेखक, शिक्षा जगत से जुड़े लोग, गृहणियां, कर्मचारी, किसान, स्कूल के अध्यापक आदि। हम चाहते हैं कि जो वास्तव में बोला जाता है वही मेघालय की भाषिक चेतना की सहज शब्दावली और अभिव्यक्तियों के द्वारा दस्तावेज में सामने आए, जो यहां की भाषिक और सांस्कृतिक विरासत को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करे।

मेघालय में खासी और गारो भाषाओं की लिखित लिपियां 1800 के मध्य वर्षों में मिलीं। यहां हम देखते हैं कि लिखित भाषा के मानकीकरण की प्रक्रिया अभी भी चल रही है। मेघालय से जुड़ा पी.एल.एस.आई. कार्य उक्त अध्याय में विद्यार्थियों को सहायता प्रदान करेगा। स्कूल तथा कॉलेज के भाषा सम्बन्धी पाठ्यक्रम में पी.एल.एस. आई. का यह खण्ड पाठ्यक्रम के परिवर्द्धन और संशोधन में सहायक होगा। इसके अतिरिक्त, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि पी.एल.एस.आई. खण्ड प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध रहेगा और हर व्यक्ति अपनी भाषा के संरक्षण का सहभागी हो। क्योंकि यह खण्ड तकनीकी तौर पर दस्तावेजीकरण नहीं है इसलिए यह प्रदेश में बोली जाने वाली भाषाओं के विषय में सहज और ज्ञानवर्धक जानकारी प्रदान करेगा। इसमें भाषिक तत्त्वों को भी समाहित किया गया है जिससे वह भविष्य की चुनौतियों को भी सुलझा सके। पी.एल.एस.आई. के इस खण्ड के साथ हम बहुत बड़ी उपलब्धि हासिल कर रहे हैं।

यद्यपि, पी.एल.एस.आई. के मेघालय के लिए जुड़े सभी लोग अपनी भाषाओं के सरोकारों के प्रति प्रतिबद्ध हैं किन्तु मुझे यह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व लगता है। लोगों का सरोकार उनकी अपनी भाषाओं के प्रति ही नहीं अपितु अपने क्षेत्रों से आगे जाकर अन्य भाषाओं के बारे में भी दस्तावेजीकरण की जिम्मेदारी सम्भालना है। जो भाषाएँ उनके पड़ोस में भी बोली जाती हैं, गांवों तथा अन्य क्षेत्रों में बोली जाती हैं। पी.एल.एस.आई. ने एक सेतु का कार्य किया है जिसने सामुदायिक भावना और साझा अनुभव का सृजन किया है। मेघालय से जुड़े पी.एल.एस.आई. के अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकती हूं कि कई कठिनाइयां थीं किन्तु ऐसी कोई कठिनाई नहीं थी जिसका समाधान न ढूंढ़ा जा सके। कुछ सम्वादहीनता थी जब मैं पी.एल.एस.आई. की भावना को विभिन्न लोगों तक ठीक से व्यक्त नहीं कर पाई। फिर भी कुछ समय बाद कार्य की प्रकृति के विषय में उनकी समझ बन गई। यह तभी हो पाया जब

उन्होंने कागज-कलम उठाकर उसे लिखना शुरू किया। उन्होंने विभिन्न भाषाओं और बोलियों को टेप करना शुरू किया। पी.एल.एस.आई. ने इसके साथ ही एक नई शुरुआत की और यह एक सतत प्रक्रिया है इसलिए पी.एल.एस. आई. की मेघालय टीम के सभी सदस्य इस राज्य से जुड़ी इस परियोजना के अगले चरण के बारे में उत्साहित हैं।

मेघालय में पी.एल.एस.आई. का कार्य उन संसाधनों के द्वारा सम्भव हो पाया जो पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, (North Eastern Hill University, NEHU) शिलांग में उपलब्ध कराया गया, जिसने इसकी कार्यशालाओं का आयोजन किया तथा पूर्वोत्तर के प्रतिभागियों को आवास की सुविधा प्रदान की। जितनी भी कार्यशालाएं हुईं उनकी मीडिया कवरेज अच्छी हुई और जी.एन. देवी का साक्षात्कार भी लिया गया जिसमें उन्होंने पी.एल.एस.आई. के उद्देश्यों और कार्यों पर विस्तार से चर्चा की। री खासी बुक एजेंसी, शिलांग ने मेघालय सम्बन्धी खण्ड के खासी, गारो रूपान्तरण के प्रकाशन को उत्साह के साथ सम्भालने का जिम्मा लिया। कुल मिलाकर मेघालय सम्बन्धी यह कार्य विभिन्न एजेंसियों तथा व्यक्तियों की सहायता के कारण सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सका जिन्होंने अपने संसाधनों को उपलब्ध कराकर कार्य को सुचारू रूप से आगे बढ़ाया।

मेघालय की दो मुख्य भाषाओं गारो तथा खासी और उनकी बोलियों का भी दस्तावेजीकरण किया गया है। बायते, हदेम (साकाचेप) तथा मार्नगर जैसी अन्य भाषाओं का दस्तावेजीकरण किया गया है। यद्यपि, कारबी, मेच, कोच तथा राभा जैसी भाषाओं का दस्तावेजीकरण नहीं किया गया है। ये भाषाएँ राज्य की असम से जुड़ी सीमा में बोली जाती हैं। इनमें से कुछ भाषाएँ असम में काफी लोगों द्वारा बोली जाती हैं। आशा की जाती है कि इन भाषाओं का भविष्य में विवरण दिया जाएगा और सम्भवत: असम के हमारे साथी इनका ब्यौरा देंगे।

इस प्रकार का कोई भी कार्य कभी भी संपूर्ण नहीं हो पाता। फिर भी हमें यह बताते हुए प्रसन्नता हो रही है कि टीम की पर्याप्त क्षमता के अनुरूप यह कार्य हो गया है। हम इसमें भविष्य में और संशोधन करेंगे जिससे लोगों को अपनी भाषायी जड़ों को समझने का मौका मिलेगा।

नागालैण्ड

मैं डी. कौली (D. Kuolie) हूं। मैंने 1978 में पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कोहिमा कॉलेज, कोहिमा से स्नातक किया और नॉर्थ-ईस्टर्न हिल यूनीवर्सिटी (नेहू) से 1985 में अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. किया। भाषा विज्ञान में रुचि होने के कारण मैंने डेकन कॉलेज, पी.जी.आर.आई. पुणे विश्वविद्यालय से एम.ए. (भाषा विज्ञान) 1989 में किया। 1996 में उसी संस्था से पीएच. डी. भाषा विज्ञान में प्रवेश लिया और 2004 में इसकी उपाधि मिली। डेकन कॉलेज पुणे में अध्ययन के दौरान मैंने सीखा कि मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता की अभिव्यक्ति सर्वोत्तम रूप में मातृभाषा के माध्यम से होती है क्योंकि यह हमारी सोच की भाषा होती है। इसलिए मैंने मन बनाया और अपनी मातृभाषा तेनीदी में विभिन्न विषयों पर लेख लिखना शुरू किया जिससे हमारे समाज में मातृभाषा के माध्यम से ज्ञानार्जन की आवश्यकता के प्रति जागरुकता बढ़ सके। भाषा और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और मातृभाषा के माध्यम से इसे अत्यधिक सहजता से समझा जा सकता है। इसका उपयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में किया जा सकता है जिसके द्वारा गुणात्मक शिक्षा प्रदान की जा सके। मेरे दिमाग में यह साधारण सा विचार था जिसके कारण मैं तेनीदी की मासिक सांस्कृतिक पत्रिका 'उरादजे' में कविताएं लगातार भेजने लगा। जनवरी 1994 से मैं इस पत्रिका के सम्पादक का कार्य देख रहा हूं।

मुझे पता चला कि सरकार भारतीय भाषा सर्वेक्षण करा रही है। यह जानकारी हमें तब मिली जब नेहू, शिलांग में 2008 में सी.आई.आई.एल. मैसूर ने नॉर्थ-ईस्ट विंटर स्कूल ऑफ लिंग्विस्टिक्स का आयोजन किया किन्तु उसके

बाद कुछ सूचना नहीं मिली। फिर भाषा रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन सेण्टर ने भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण का कार्य शुरू कर दिया। मैंने 1-2 दिसम्बर 2011 को आयोजित पी.एल.एस.आई. की कार्यशाला में भाग लिया और इस टीम से जुड़ गया। इसके अलावा, मैंने 7-8 जनवरी 2012 को बड़ौदा में पी.एल.एस.आई. के सम्मेलन में भाग लिया।

अपने पीएचडी के शोध कार्य के दौरान कई वर्षों तक मैंने जी.ए. ग्रियर्सन के भारत का भाषाई सर्वेक्षण खण्ड-III, भाग-II (1908) का अध्ययन किया। इस खण्ड में कुछेक नागा भाषाओं का ही विवरण दिया गया है जिसमें यह बताया गया है कि वर्तमान नागालैण्ड का अधिकांश हिस्सा उस समय औपनिवेशिक शासन के अधीन नहीं था। भारत सरकार की इच्छा तथा तत्कालीन शिक्षित नागा नेताओं के सशक्त प्रभाव के कारण ही वर्तमान मॉन, लांगलेंग, खेनसोग तथा किफीरे का पूर्वोत्तर जिला नागालैण्ड राज्य तथा भारत के अधीन आ सका। भारत का संविधान सभी जातीय समुदायों को अपनी भाषाओं और साहित्य का विकास करने तथा समान अवसर प्रदान करता है जिससे कि उनकी अस्मिता का निर्माण होता है। मैं इस बात के लिए प्रतिबद्ध था कि सुनिश्चित कर सकूं कि नागालैण्ड के सभी भाषिक समूहों को भी यह अवसर मिल सके। पी.एल.एस.आई. के नागालैण्ड खण्ड के सम्पादक के रूप में मेरा यह प्रयास रहा है कि मैं अपने राज्य के लोगों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को पूरा कर सकूं। मेरी समझ से पी.एल.एस.आई. की परियोजना के सहयोगी के रूप में सभी भाषिक समूहों के लोगों की संलग्नता राष्ट्रीय महत्त्व के इस कार्य में लोगों की सहभागिता की भावना को अभिव्यक्ति देगा। गैर सूचीबद्ध भाषाओं की पहचान तथा उनका मान्यता प्राप्त भाषाओं के साथ संबंध चिमीन करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। विभिन्न भाषा समुदायों की भागीदारी के द्वारा इन भाषाओं और उनके साहित्य का विकास करना उतना ही महत्त्वपूर्ण कार्य है।

पी.एल.एस.आई. में सहयोगियों की बौद्धिक भागीदारी तथा रुचि इस कार्य में शुरू से आखिर तक बनी रही। मैं विद्यालयी शिक्षा विभाग के अधिकारियों विशेषतः भाषा अधिकारियों और विभिन्न समुदायों के भाषा सहायकों का आभारी हूं। आभारी हूं विभागाध्यक्षों का जिन्होंने पी.एल.एस.आई. की परियोजना के महत्त्व को समझा तथा सुनिश्चित किया कि मुझे हर सम्भव सहायता उपलब्ध कराई जाए। यह सर्वेक्षण राज्य के समुदायों की भाषिक अस्मिता की पहचान और संरक्षण को सुनिश्चित करने का एक प्रयास समझा गया।

पी.एल.एस.आई. के कार्य की शुरुआत तब से हुई जब जनवरी 2012 में बड़ौदा में वैश्विक भाषा सम्मेलन हुआ। इसके लिए आवश्यक प्रारूप/प्रश्नावली तैयार की गई जिसमें 800 शब्दों में भाषा का इतिहास, व्याकरणिक कोटियां, वाक्य के प्रकार तथा अन्य विवरण थे जो 1-2 दिसम्बर 2011 में हुई पहली कार्यशाला की कार्यवाही में स्वीकृत हुआ था। इसे तैयार किया गया तथा 25 मई 2012 को हुई एक दिवसीय कार्यशाला में सभी सहयोगियों को वितरित किया गया था। उसके बाद प्रश्नावली दो सप्ताह बाद इकट्ठी की गई। तेनीदी उपसमूह में सात मान्यता प्राप्त भाषाओं को शामिल किया गया है, इससे सम्बन्धित कार्य हो गया है तथा शेष कार्य प्रगति पर है। भाषिक सर्वेक्षण कार्य की अन्तर्वस्तु पूर्वतः संरचनात्मक स्तर पर होती है जिसमें स्वनिम (स्वर विज्ञान) रूप विज्ञान तथा वाक्य रचना शामिल है।

पी.एल.एस.आई. के योगदान को न केवल राष्ट्रीय स्तर पर महत्त्व मिलेगा अपितु अन्तर्राष्ट्रीय पहचान भी मिलेगी। निश्चय ही यह राष्ट्र के लिए एक सम्पदा होगी। जी.ए. ग्रियर्सन के द्वारा किया गया भारतीय भाषा सर्वेक्षण एक सौ साल से ज्यादा पुराना हो गया है। जहां तक नागालैण्ड का सवाल है इसमें जो आंकड़े संगृहीत हैं, वे अधूरे हैं- यह बात पहले भी कही गई है। यही नहीं, यह भी पता चला कि प्रत्येक गांव या कुल को स्वतन्त्र समूह में सूचीबद्ध किया गया है। पी.एल.एस.आई. ने भी इन आंकड़ों की समीक्षा की है और उसमें विभिन्न विषयों की शोध सामग्री की सहायता ली गई है।

नागालैण्ड की भाषाओं के बारे में पी.एल.एस.आई. के विवरण से निश्चय ही विद्वानों के लिए सन्दर्भ सामग्री

के विश्वसनीय स्रोत के साथ ही समाज के सभी वर्गों को विश्वसनीय सूचनाएं मिलेंगी। यद्यपि, सर्वेक्षण में राज्य की सभी नागा भाषाओं के सन्दर्भ में विशेष जानकारी नहीं दी जा रही है, फिर भी इस खण्ड में संगृहीत आंकड़े भविष्य में भाषा सम्बन्धी विवरणात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी होंगे। आज तक नागालैण्ड में कुछेक भाषिक और शोध परियोजनाएं सामने आई हैं और विभिन्न भाषाओं के विषय में पर्याप्त विवरण के अभाव तथा प्रशिक्षित सहयोगियों के अभाव के कारण इस खण्ड में तेनीदी पर आधारित विशेष अध्याय के अतिरिक्त केवल सामान्य सूचनाएं दी गई हैं। फिर भी इस दस्तावेज से उम्मीद है कि वह युवा पीढ़ी को भाषा वैज्ञानिक और साहित्यिक क्षेत्रों में शोध कार्य के लिए प्रेरित करेगा। नागालैण्ड सरकार इसका उपयोग भाषा सम्बन्धी नीति बनाने के लिए कर सकती है जिससे राज्य के लोगों के हितों के लिए भाषा और साहित्य का विकास हो सके।

नागालैण्ड की सत्रह मान्यता प्राप्त भाषाएँ हैं जिनमें कुकी भी है। नागालैण्ड में कुकी भाषियों की संख्या बहुत कम है जबकि मणिपुर में इसको बोलने वाले बहुत ज्यादा हैं। और चूंकि मणिपुर के लिए कार्य कर रही पी.एल.एस. आई. टीम ने थाडोव-कुकी (Thadou-Kuki) के सर्वेक्षण का कार्य कर लिया है इसलिए यह नागालैण्ड सम्बन्धी खण्ड में नहीं दी जा रही है। तिखिर भाषा की जागरुकता के लिए प्रयास किए जा रहे हैं किन्तु प्रारम्भिक सर्वेक्षण के अनुसार, यह मात्र यीमचूंगर समूह की ही एक बोली जाने वाली भाषा है और जब तक ठीक से कोई सर्वेक्षण नहीं होता तब तक इस भाषा को शामिल करना उचित नहीं होगा।

पी.एल.एस.आई. का नागालैण्ड राज्य सम्बन्धी खण्ड प्रकाशन के लिए तैयार है। यह इस खण्ड में शामिल विभिन्न भाषाओं के गंभीर अध्ययन एवं शोध पर तत्काल प्रभाव डालेगा। अभी तक जो स्थिति है उसके आधार पर कुछ करना शेष नहीं है, जहां तक तिखिर भाषा को शामिल करने का सवाल है पूरक सर्वेक्षण में शामिल किया जा सकता है।

तमिलनाडु

मैं के. रंगन (K. Rangan) हूं। मैंने अन्नामलाई विश्वविद्यालय, तमिलनाडु से 1963 में स्नातक किया। इसमें तमिल साहित्य का विस्तृत अध्ययन शामिल था जिसमें संगम साहित्य के चयनित पाठ से लेकर मध्यकालीन साहित्य और आरंभिक दौर का व्याकरण जैसे तोलकाप्पियम भी थे। इसके बाद मैं भाषा विज्ञान के सन्दर्भ में अध्ययन के लिए सेण्टर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन लिंग्विस्टिक्स, अन्नामलाई विश्वविद्यालय चला गया और 1965 में भाषा विज्ञान में एम.ए. की उपाधि अहर्त की। कुछ समय तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के कार्य करने लगा और अन्नामलाई विश्वविद्यालय में जूनियर फैलो के रूप में कार्य करने के बाद मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग में पी.वी. पण्डित के निर्देशन में 'ए कंट्रास्टिव स्टडी ऑफ ग्रामेरिकल स्ट्रक्चर्स ऑफ तमिल एण्ड इंग्लिश' विषय पर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त करने के लिए प्रवेश लिया। वे तुलनात्मक साहित्य एवं सामाजिक भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान हैं। वहां मुझे वाक्य रचना पर रॉबर्ट बी. लीज के व्याख्यान सुनने का अवसर मिला जो मेरे लिए विशिष्ट अनुभव था। यद्यपि, यह बहुत कम समय के लिए था। इसके अतिरिक्त, मुझे भाषा विज्ञान के अन्य विशिष्ट विद्वानों के व्याख्यान सुनने का अवसर मिला। दिल्ली विश्वविद्यालय में पीएच. डी. के लिए शोध प्रबंध जमा करने के पहले मुझे सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन लैंग्वेजेज, सी.आई.आई.एल., मैसूर में कार्य करने के लिए जाना पड़ा। वहां डी.पी. पट्टनायक प्रमुख पद पर कार्य कर रहे थे। उनके लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से हमलोगों को अनुप्रायोगिक भाषा विज्ञान और समाज भाषा विज्ञान के विषय में बड़ा प्रोत्साहन मिला तथा उन्होंने एक पीढ़ी को प्रेरणा दी। सी.आई.आई.एल. में ही मैंने फील्ड लिंग्विस्टिक्स का प्रशिक्षण प्राप्त किया। मैंने कारगिल में बोली जानेवाली भाषा बाल्टी की एक बोली पुरकी पर कार्य किया। सी.आई.आई.एल. के द्वारा 'ए फोनेटिक रीडर एण्ड ग्रामर ऑफ पुरकी'

प्रकाशित किया। एक अन्य अविस्मरणीय आयोजन था, फोर्ड फाउण्डेशन की वित्तीय सहायता से सी.आई.आई.एल. ने समाज भाषा विज्ञान की अन्तर्राष्ट्रीय कार्यशाला आयोजित की। इस कार्यशाला में भाग लेना एक महत्त्वपूर्ण अनुभव था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों के व्याख्यान सुनने का अवसर मिला जिनमें प्रोफेसर विलियम लाबोव, जॉन गम्परेज, पी.वी. पण्डित, डी.पी. पट्टनायक तथा ई. अन्नामलाई (Professor William Labov, John Gumperz, P.B. Pandit, D.P. Pattanayak and E. Annamalai) थे। इन्होंने हमारी अल्पकालिक परियोजनाओं के लिए दिशा-निर्देश भी दिए। मुझे वह सुखद अनुभव याद आता है जब मुझे लाबोव से सहयोग मिला, जब मैंने ज्ञानसुंदरम के साथ 'निगेशन इन मैसूर तमिल' पर काम किया। यह शोध पत्र बाद में 'इंटरनेशनल जर्नल ऑफ द्राविडियन लिंग्विस्टिक्स' में प्रकाशित हुआ। 1976 में सी.आई.आई.एल. ने मुझे तीन महीने के लिए विजिटिंग साइंटिस्ट के रूप में फोर्ड फाउण्डेशन वित्तीय सहायता के अन्तर्गत भाषा विज्ञान विभाग, एम.आई.टी., केम्ब्रिज, यू.एस.ए. में भेज दिया। मुझे वहां प्रोफेसर नॉम चॉमस्की, मोरिस हाले, पॉल किपारसकी, जॉन राबर्ट रॉस (Professor Noam Chomsky, Morris Halle, Paul Kiparsky, John Robert Ross) आदि के व्याख्यान सुनने का अवसर मिला। यद्यपि, यह बहुत कम समय के लिए था किन्तु वहां मेरे प्रवास ने मेरे निजी जीवन को बहुत प्रभावित किया। फिर भी सी.आई.आई.एल. ने ही मुझे एक भाषा वैज्ञानिक के रूप में स्थापित करने में एक भूमिका निभाई। 1982 में तमिल विश्वविद्यालय, तन्जौर के भाषा विज्ञान विभाग में अध्यापक बना। विभाग में सिर्फ एक प्रोफेसर और दो रीडर थे। हमलोग तमिल भाषा और भाषा विज्ञान के विकास के लिए कार्य करने में लग गए। हमलोगों को तमिल विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति वी.आई. सुब्रमण्यम (V.I. Subramaniam) ने प्रोत्साहित किया। वे भाषा विज्ञान के विशेषज्ञ और द्राविडियन लिंग्विस्टिक एसोसिएशन, तिरुवन्तपुरम के संस्थापक थे। भाषा विज्ञान के पाठ्यक्रम पर कई कार्यशालाएं आयोजित की गईं जिनमें तमिलनाडु के विभिन्न भागों के कॉलेज के अध्यापकों ने भाग लिया। तमिल विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित विश्वकोश (मानविकी) के खण्डों में बहुत से लेख शामिल किए गए। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के कई विद्वानों को भाषा विज्ञान के विषय में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। सेवानिवृत्ति के बाद मुझे द्राविडियन विश्वविद्यालय, कुप्पम, आन्ध्र प्रदेश ने द्राविडियन लिंग्विस्टिक्स एण्ड कम्प्यूटेशनल लिंग्विस्टिक्स विभाग की स्थापना करने के लिए आमंत्रित किया। मैं वहां डेढ़ वर्ष तक रहा और मैंने भाषा विज्ञान से सम्बन्धित कई शोध पत्र क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में तमिल तथा अंग्रेजी में लिखकर प्रकाशित करवाए। मैंने सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ क्लासिकल तमिल, चेन्नई से प्राप्त आर्थिक सहायता से 'टुवर्ड्स फॉरमुलेटिंग फॉर्मल फोनोलॉजिकल रूल्स ऑफ तोलकाप्पियम-इझुट्टाटिकरम' विषय पर अल्पकालीन परियोजना पूरी की। परियोजना की रिपोर्ट प्रकाशन के लिए स्वीकृत हो गई है। भरतियार विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग ने मुझे यूजीसी योजना के अन्तर्गत विजिटिंग फैलो के रूप में कार्य करने के लिए आमंत्रित किया और मैं चॉमस्की पर अपना मोनोग्राफ तमिल में प्रकाशित कराने के लिए सहमत हो गया।

गणेश देवी के नेतृत्त्व में भाषा रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन सेण्टर की परियोजना पी.एल.एस.आई. के साथ मुझे जोड़ने में रामकृष्ण रेड्डी और पंचानन मोहन्ती (Ramakrishna Reddy and Panchanan Mohanty) की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। हैदराबाद विश्वविद्यालय में सेण्टर फॉर एडवांस्ड लिंग्विस्टिक एण्ड ट्रांस्लेशन स्टडीज के द्वारा संयुक्त रूप से एक कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें ज्ञानसुन्दरम तथा मुझे आमंत्रित किया गया। भाषा वैज्ञानिक तथा भाषा के योजनाकार इस बात से सहमत हुए कि भारत का एक भाषा सर्वेक्षण कराना आवश्यक था और यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि सी.आई.आई.एल. की पहली पहल असफल हो गई। हमलोग उत्सुक थे इस बात के लिए कि कोई इस प्रयास को सार्थक रूप से सफल बनाए और गणेश देवी के रूप में हमें एक ऐसा अग्रणी मिल गया जो

इस कार्य को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करेगा। हमलोग पहली ही बैठक में योजना के प्रारूप से अत्यंत प्रभावित हुए कि योजना कितनी स्पष्ट रूप से व्यवस्थित है जिसे टीम अपने जिम्मे ले रही है।

जिन लोगों के पास राजनीतिक और प्रशासनिक शक्तियां हैं वे भाषा की प्रकृति को अच्छी तरह से समझते नहीं। आम आदमी तथा प्रशासक दोनों के लिए भाषा वह है जो लिखित रूप में मौजूद है। इस प्रकार साहित्य एवं पत्रकारिता में जो भाषाएँ प्रयुक्त होती हैं उन्हीं को भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है। जो भाषाएँ बोली जाती हैं उन्हें लिखित भाषाओं के समान नहीं माना जाता तथा उनके श्रेष्ठ/हीन अथवा शुद्ध/अशुद्ध होने का पैमाना इस बात पर निर्भर करता है कि किस वर्ग से वे सम्बन्धित हैं लेकिन नृभाषा एक सेना की होती है जिसमें आन्तरिक विभाजन एवं उपविभाजन होता है। कुछ भाषाओं में लिखित और मौखिक रूपों में भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। तमिल ऐसी ही एक भाषा है। इसके लिखित और मौखिक रूप न केवल संरचनात्मक स्तर पर भिन्न हैं अपितु कार्यान्वयन में भी पूर्णत: भिन्न हैं। 'द्वित्त्व' की अवधारणा महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि यह इन दो रूपों में संरचनात्मक एवं कार्यात्मक भेद स्पष्ट रूप से करती है। हमने जो सर्वेक्षण तमिल में किया उससे तमिलभाषा समुदाय में बोली जाने वाली तमिल की भूमिका के सन्दर्भ में तमिल भाषियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन देखा जा सकता है। हम देख सकते हैं कि आधुनिक सर्जनात्मक साहित्य एवं मास मीडिया में बोली जाने वाली तमिल की क्या भूमिका है।

जैसा कि ज्ञानसुन्दरम ने बताया कि कुछ अल्प भाषाओं में अभी भी खास दक्षिण द्राविडियन भाषाओं की पुरानी विशेषताएं दिखाई देती हैं। इरावल्ला भाषा में तालव्यीकरण के अभाव के कारण भी ऐसा है। भरतियार विश्वविद्यालय की एक टीम द्वारा किए गए एक नवीनतम सर्वेक्षण में पता चला है कि पुरानी तमिल (जो मलयालम में दिखाई देती है) की एक विशेषता अभी भी मुदुवन एवं कादर में मौजूद है। इस प्रकार अल्पभाषी भाषाओं के सर्वेक्षण कुछ विशिष्ट भाषाओं की प्रवृतियों के विषय में भी जानकारी देते हैं। यही नहीं, मुझे विश्वास है कि राज्य में भाषा के योजनाकारों को स्पष्ट भाषा नीति बनाने में इससे सहायता मिलेगी। उन्हें तमिलनाडु में भाषा की स्थितियों की जानकारी से अवश्य परिचित होना चाहिए तभी तो वे अच्छी भाषा नीति बना सकेंगे जो प्रभावी ढंग से क्रियान्वित होगी।

सेण्टर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन लिंग्विस्टिक्स, अन्नामलाई विश्वविद्यालय ने 1960 से कार्य करना शुरू किया तब से उस केन्द्र के लोगों ने विभिन्न जनजातीय एवं अल्पभाषी भाषाओं के बारे में कार्य किया है। इनमें अधिकांश ने मुख्यत: नीलगिरि क्षेत्र में बोली जाने वाली द्राविडियन भाषाओं की संरचना का विवरण दिया है। यद्यपि, इसका उद्देश्य उन जनजातीय एवं अल्पभाषी द्राविडियन भाषाओं का विवरण देना है जो भाषाएँ तमिलनाडु में बोली जाती हैं जिससे कि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रभावी ढंग से किया जा सके। यह सामग्री भाषा सर्वेक्षण के लिए उपयोगी होगी तथा पाठ्य सामग्री बनाने में भी सहायक होगी। यही नहीं, भर्तियार विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग ने अब तमिलनाडु के पश्चिमी घाट में बोली जाने वाली भाषाओं का विवरण एकत्रित करना शुरू कर दिया है। भाषा विज्ञान विभाग, मदुरै कामराज विश्वविद्यालय, तमिल विश्वविद्यालय, इंटरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ तमिल स्टडीज तथा पांडिचेरी इन्स्टीट्यूट ऑफ लिंग्विस्टिक एण्ड कल्चर, जनजातीय और अल्पभाषाओं के लिए पाठ्य सामग्री और विश्वकोश व शब्दकोश तैयार कर रहे हैं। मैं इस बात का उल्लेख करना चाहूंगा कि वी.आई. सुब्रमण्यम के निर्देशन में इंटरनेशनल स्कूल ऑफ द्राविडियन लिंग्विस्टिक्स ने तीन खण्डों में इनसाइक्लोपीडिया ऑफ द्राविडियन लैंग्वेजेज' (द्रविड भाषा विश्वकोश) तैयार कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है 'तमिलनाडु की भाषा स्थिति' (लैंग्वेज सिचुएशन इन तमिलनाडु) की सर्वेक्षण रिपोर्ट, जो ज्ञानसुन्दरम द्वारा यू.जी.सी. की वित्तीय सहायता से भाषा विज्ञान विभाग, तमिल विश्वविद्यालय, तन्जौर ने किया। पीएच. डी. के शोध प्रबन्ध और परियोजना रिपोर्ट तमिलनाडु के भाषा सर्वेक्षण के लिए स्रोत सामग्री के रूप में काम आए।

प्रस्तुत सर्वेक्षण का महत्त्व इस बात में है कि तमिलनाडु में भाषा के योजनाकार इसका उपयोग कर सकते हैं। भाषा सम्बन्धी नीतिकारों को तमिलनाडु में भाषा की विविधता को समझना चाहिए। यद्यपि, तमिल का प्रयोग शिक्षा, प्रशासन तथा मास मीडिया में प्रमुखतः किया जाता है किन्तु योजनाकारों को इस पर भी विचार करना चाहिए कि प्रदेश की अल्पभाषी भाषाओं का प्रयोग कहां किया जा सकता है। अल्पभाषी भाषाओं का प्रयोग मुख्यधारा को इन समूहों में आसानी से प्रवेश के लिए संयोजक की भूमिका के लिए किया जा सकता है। इस सामग्री का उपयोग भाषाओं के वर्गीकरण एवं तुलनात्मक अध्ययन सम्बन्धी शोध के लिए तथा जनभाषाओं के शिक्षण में स्रोत सामग्री के रूप में किया जा सकता है। प्रस्तुत खण्ड तमिलनाडु की भाषिक स्थिति का समग्र बिम्ब प्रस्तुत कर सकता है।

त्रिपुरा

मैं सुखेन्दु देबबर्मा (Sukhendu Debbarma) हूं। मैं अगरतला में रहता हूं। मेरा बचपन ज्यादातर मेरे गांव में ही बीता। मेरे प्रेरणा स्रोत मेरे दादाजी, मुझे बोरोक लोगों के अतीत के बारे में कहानियां और लोक कथाएं सुनाते थे। वे मुझे स्कूल छोड़ने जाते थे और मेरे अध्यापकों को भी बताया करते थे कि मुझे समाज का महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सदस्य बनना चाहिए। वे मुझे शिक्षा का महत्त्व भी बताया करते थे। बंगाली माध्यम से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद मेरे गांव चण्डी ठाकुरपारा में कोकबोरोक माध्यम का कोई स्कूल नहीं था तथा लगभग सभी सरकारी स्कूल में बंगाली माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। तब मुझे अगरतला के सेण्ट पॉल स्कूल में प्रवेश दिलाया गया जो कि अंग्रेजी माध्यम का स्कूल था। शुरू में तो शिक्षा का माध्यम बदलने के कारण मुझे समझने में कठिनाई होती थी किन्तु जल्दी ही मुझे कठिनाई से छुटकारा मिल गया। स्कूल शिक्षा पूरा करने के बाद मैं शिलांग, मेघालय चला गया और सेण्ट एंथनी कॉलेज, शिलांग से इतिहास में बी.ए. किया और फिर एम.ए, एम.फिल, बी.एड तथा पीएच. डी. नेहू (पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय) शिलांग से किया। अध्ययन के दौरान मुझे अनुसूचित जनजाति/अनुसूचित जाति (सीमावर्ती क्षेत्र) स्नातकोत्तर छात्रवृत्ति तथा यू.जी.सी. की जूनियर रिसर्च फैलोशिप (जे.आर.एफ.) मिली।

मार्च 1995 में मैं त्रिपुरा विश्वविद्यालय में इतिहास का प्रवक्ता बन गया और वर्तमान विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के पद पर हूं। इन वर्षों में अध्यापन एवं शोध निर्देशन में सक्रिय रूप से कार्य कर रहा हूं। अब तक एक पुस्तक तथा कई लेख राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं तथा सम्पादित पुस्तकों में प्रकाशित हैं। मैंने कोकबोरोक भाषा पर कई लेख लिखे तथा मैं कोकबोरोक साहित्य सभा का सक्रिय कार्यकर्ता हूं जो भाषा के विकास तथा संरक्षण में सक्रिय रूप से कार्य कर रही है। मैं स्थानीय मुद्दों की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा करता हूं तथा मैंने संयुक्त राष्ट्र संघ जिनेवा और न्यूयार्क में हुई बैठकों में हिस्सा लिया। मैं 'एक्सपर्ट सेमीनार ऑन इण्डीजेनश पीपुल्स एण्ड एजूकेशन' की समिति का सदस्य था जो कि यूनेस्को द्वारा 18 से 20 अक्टूबर 2004 को पेरिस में आयोजित की गई थी। मुझे 2012 में कॉमनवेल्थ स्टाफ फैलोशिप प्रदान की गई।

पी.एल.एस.आई. के साथ मेरा जुड़ाव प्रोफेसर ईस्थर स्याम के कारण हुआ जो अंग्रेजी विभाग नेहू में हैं। जब उन्होंने मुझे इस सर्वेक्षण के महत्त्व, विशेषतः पूर्वोत्तर भारत के लिए इसकी उपयोगिता से परिचित कराने के लिए बुलाया। उसके बाद मुझे सर्वेक्षण के बारे में विवरण देने वाले ई-मेल प्राप्त होने लगे। इसके बाद, मैंने पी.एल.एस.आई. के सम्भाव्य सहयोगियों को इसके बारे में बताया। मैंने पी.एल.एस.आई. की पहली और दूसरी क्षेत्रीय कार्यशालाओं में भाग लिया जो 1-2 दिसम्बर 2011 तथा 4-5 मई 2012 को बड़ौदा में आयोजित हुई थीं। दूसरी क्षेत्रीय कार्यशाला त्रिपुरा के सन्दर्भ में छः सहयोगी शामिल हुए। उन्होंने पूरे मनोयोग से भाग लेकर अपनी भाषाओं के सम्बन्ध में जानकारी दी। इन सहयोगियों की सक्रिय भागीदारी के बिना त्रिपुरा के सम्बन्ध में सर्वेक्षण सम्भव नहीं हो

पाता। प्रत्येक लेखक/सहयोगी ने अपनी भाषा के विषय में उत्साह और यथासाध्य सावधानी के साथ प्रविष्टि लिखी।

त्रिपुरा में उन्नीस जनजातीय समुदाय हैं। इनमें अधिकांश जनजातियों की भाषा सरकारी प्रशासन से उपेक्षित है तथा इन भाषाओं के संरक्षण तथा प्रोत्साहन के लिए कोई पहल नहीं हुई है। कोकबोरोक भाषा अधिकांश जनजातियां बोलती हैं, वह प्रदेश की राजभाषा है। यह त्रिपुरा जनजातीय क्षेत्र स्वायत्त जिला परिषद् के अन्तर्गत प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम है। फिर भी लिपि सम्बन्धी विवाद (बंगाली बनाम रोमन) तथा अनुपयुक्त पाठ्यक्रम योजना इस भाषा के विकास में बाधक रही है। पूर्वोत्तर के साथ अलगाव, त्रिपुरा के दिल्ली से सुदूर स्थित होने से लोग इसे तथा यहां के लोगों के बारे में बहुत कम जानते हैं। इसलिए मैंने सोचा कि यह अच्छा अवसर होगा कि यदि हम शेष भारत तथा बाहर के लोगों को त्रिपुरा के बारे में तथा इसकी भाषाओं के बारे में पी.एल.एस.आई. के माध्यम से बता सकें।

सर्वेक्षण के दौरान यह आवश्यक था कि सहयोगियों से समय-समय पर सम्वाद करें। इन सम्वादों के माध्यम से यह तय किया गया कि प्रत्येक भाषा के लिए सहयोगी प्रविष्टि लेखक उस समुदाय के वरिष्ठ लोगों या विशेषज्ञों के साथ सम्पर्क करेंगे जो उन्हें अपनी भाषाओं के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध कराएंगे। इसके लिए सहयोगी दूर-दराज के गांवों में गए जहां समुदाय के बुजुर्ग या विशेषज्ञ रहते थे और उन्होंने उन लोगों से पी.एल.एस.आई. के लिए कुछ सूचनाएं एवं आंकड़े मांगे। इस प्रक्रिया में उनसे सहयोगियों ने काफी बातचीत की और मुझे बताया कि यह सम्वाद उनके लिए अत्यधिक रोचक तथा उपयोगी अनुभव था। इन सभी लोगों ने पी.एल.एस.आई. के कार्यों को गंभीरता से समझा तथा वे इसको लेकर अत्यधिक उत्साहित थे क्योंकि पहली बार ऐसा पद्धतिपरक तथा समग्र सर्वेक्षण का कार्य हो रहा था और उनकी भाषाओं का विवरण प्रकाशित होने जा रहा था। हमें दो अन्य भाषाओं- रांग लोग तथा चोरेई पर भी सूचनाएं मिल गईं। इनके सम्बन्ध में लेखन की प्रक्रिया जारी है।

पी.एल.एस.आई. सर्वेक्षण को अच्छी तरह से पूरा करने के लिए अनौपचारिक बैठकें तथा सम्वाद सहयोगियों के अलावा समुदाय के वरिष्ठजनों अथवा विशेषज्ञों के साथ चल रहे थे। कहने की आवश्यकता नहीं होगी कि हमारे प्रेरणा स्रोत तथा हम सब लोगों को प्रेरित करने वाले गणेश देवी ही हैं। जब प्रत्येक भाषा के सन्दर्भ में लेखन-प्रक्रिया पूरी हो गई तब तय किया गया कि त्रिपुरा में एक कार्यशाला आयोजित की जाए जिसमें कम-से-कम तीन-चार लोगों को प्रत्येक समुदाय के वरिष्ठों अथवा विशेषज्ञों में से बुलाया जाए। अगरतला, त्रिपुरा में 1 सितम्बर 2012 को कार्यशाला आयोजित की गई। समुदायों के वरिष्ठ जनों/विशेषज्ञों की उपस्थिति में आठ भाषाओं के सहयोगी लोगों ने अपनी प्रस्तुतियां दीं। ये सभी त्रिपुरा के विभिन्न क्षेत्रों से आए थे। सभी प्रविष्टियों पर गंभीरता से विचार-विमर्श किया गया और समुदायों के वरिष्ठजनों अथवा विशेषज्ञों द्वारा दिए गए सुझावों को गंभीरता से लिखा गया जिसे अंतिम रूप से तैयार किए जाते समय प्रविष्टियों में शामिल किया जाए। समुदायों के वरिष्ठ नागरिक या विशेषज्ञ बहुत सहयोग दे रहे थे और उन्होंने प्रविष्टि लेखकों को प्रोत्साहित किया। सभी सुझाव सकारात्मक थे और सम्बन्धित भाषाओं के भावी विकास के लिए उपयोगी थे। पी.एल.एस.आई. की त्रिपुरा सम्बन्धी गतिविधि के लिए हमें किसी भी संस्था के साथ की आवश्यकता नहीं पड़ी और न ही भविष्य में हम ऐसा लेना चाहेंगे।

त्रिपुरा के भीतर भी बहुत से ऐसे लोग हैं जो राज्य की भाषाओं से अपरिचित हैं, चाहे हम आदिवासी भाषाओं की बात करें या गैर आदिवासी भाषाओं की। इस राज्य से सम्बन्धित खण्ड प्रकाशित होने के बाद उस भाषा के समुदाय के लिए अत्यधिक उपयोगी होगा, साथ ही अकादमिक जगत और सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी होगा। जिन समुदायों के लोगों की भाषाएँ इस खण्ड में शामिल हैं, वे इसमें दिए गए विवरण से अत्यधिक गौरवान्वित

अनुभव करेंगे। ऐसे प्रकाशक भी मिलेंगे जो चाहेंगे कि इसका अनुवाद बंगाली में किया जाए क्योंकि उसको एक व्यापक पाठक वर्ग मिल जाएगा।

बेहतर होता कि कोरबांग और सैहमर जनजातियों की भाषाओं को भी शामिल किया गया होता। ये दो भाषाएँ संकटापन्न हैं क्योंकि कोरबांग में इन दोनों भाषाओं के सिर्फ 300-400 लोग बोलने वाले हैं और सैहमर के सिर्फ तीन-चार बोलने वाले हैं। पी.एल.एस.आई. के अगले चरण में इन भाषाओं को शामिल करने का प्रयास किया जाएगा। यदि इस खण्ड का बंगाली और हिन्दी में अनुवाद किया जाए तो ज्यादा उपयोगी हो। यद्यपि, इस दिशा में अभी तक कोई प्रयास नहीं किया गया है। उल्लेखनीय है कि त्रिपुरा में 69 प्रतिशत लोग बंगाली भाषी है। जहां तक हिन्दी का सवाल है, अनूदित होने पर पूरे देश में इसको लोग पढ़ेंगे। कुल मिलाकर मैं सन्तुष्ट हूं किन्तु जैसा कि मैंने भी पहले कहा कि कुछ अन्य भाषाओं को भी इसमें शामिल करने की आवश्यकता है। अन्त में, मैं त्रिपुरा सम्बन्धी पी.एल.एस.आई. खण्ड के सभी लेखकों/सहयोगियों का धन्यवाद करना चाहता हूं जिनके प्रयासों से यह कार्य सफलतापूर्वक हो सका।

पश्चिम बंगाल

मैं इन्द्रनील आचार्य (Indranil Acharya) हूं। मैं अंग्रेजी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय मिदनापुर, पश्चिम बंगाल में अध्ययन करता हूं। मैंने 2004 में ई. यीट्स और इलियट (Yeats and Eliot) से सम्बन्धित शोध के लिए 2004 में पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की। मैंने 2003 में 'कंटेम्परेरी ऑस्ट्रेलियन एवं ऑरिजिनल फिक्शन' पर यूजीसी की एक शोध परियोजना पूरी की। इस समय मैं यूजीसी के स्पेशल असिस्टेंट प्रोग्राम का उपसमन्वयक हूं जो पश्चिम बंगाल के दलित और आदिवासी समुदायों में मौखिक एवं लोक साहित्य के दस्तावेजीकरण तथा अनुवाद से सम्बन्धित है। आधुनिक ब्रिटिश कविता, आस्ट्रेलियाई जनजातिय लेखन, दलित साहित्य, भारतीय अंग्रेजी लेखन तथा अनुवाद अध्ययन पर मैंने कई लेख लिखे हैं। मेरी पहली प्रकाशित पुस्तक है, *Beyond the Sense of Belonging: Race, Class and Gender in the Poetry of Yeats and Eliot (2011)*। मैंने एक पुस्तक भी सम्पादित की है जिसका शीर्षक है- *Survival and Other Stories: Anthology of Bangla Dalit Stories (2012)*। एक अन्य सम्पादित पुस्तक प्रकाशित हो रही है- *Essays on Dalit Literature*। मैंने बंगाल की बीस लेखकों की कहानियों के अनुवाद का कार्य भी साहित्य अकादमी से स्वीकार किया है। मैंने ओरियंट ब्लैकस्वॉन के लिए महान बंगाली लेखक नरेन्द्रनाथ मित्र (Narendranath Mitra) की कहानियों के अनुवाद का दायित्त्व भी स्वीकार किया है।

मैं शंकर पी. सिंघा (Sankar P. Singha) हूं। मैं विद्यासागर विश्वविद्यालय, मिदनापुर, पश्चिम बंगाल में अंग्रेजी का प्रोफेसर हूं। यहां मैंने दो बार अध्यक्ष का पद सम्भाला। मैंने 2007 से 2011 तक कला एवं वाणिज्य संकाय के डीन का भी पदभार सम्भाला था। मैं अंग्रेजी विभाग, विद्यासागर विभाग की यूजीसी-एस.ए.पी.-III, डी.आर.एस-I परियोजना का समन्वयक हूं। मैंने अंग्रेजी में एम.ए. करने के बाद न्यू अलीपुर कॉलेज, कोलकाता और वर्धमान विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। मैं किंग्स कॉलेज, लन्दन में 2002-2003 में कॉमन वेल्थ विजिटिंग फैलो था। इसके अलावा, 2001 में *Legacy of the Nineties* तथा 2006 में *Perspectives of Basavraj Naikar* प्रकाशित किया। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में मेरे कई लेख प्रकाशित हुए हैं। अभी हाल ही में मैंने कुछ पुस्तकों का सह-सम्पादन किया - *Servival and other stories: Bangla Dalit Fiction in Translation (2011)* तथा *Essays on Dalit Literature*। साहित्य आलोचना तथा साहित्य सिद्धान्त, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के ब्रिटिश साहित्य, उत्तर औपनिवेशिक ब्रिटिश साहित्य तथा हाशिए के लेखन में अभिरुचि है।

इन्द्रनील आचार्य– मैं पी.एल.एस.आई. के कार्यों से तब जुड़ा जब मैं 2010 में बड़ौदा में ऐतिहासिक सम्मेलन, भाषा संगम, में शामिल हुआ। भारतीय भाषाओं के इसी वृहद् सम्मेलन में पी.एल.एस.आई. की अवधारणा सामने आई। इसके पहले भी मुझे जी.एन. देवी से शान्ति निकेतन, पश्चिम बंगाल में फरवरी 2010 में मिलने का अवसर मिला था, जहां मैं इस प्रक्रिया से हमेशा के लिए जुड़ गया।

शंकर सिंघा– हमारा विश्वविद्यालय राज्य के एक पिछड़े जिले में स्थित है किन्तु इसमें जनजातीय समुदायों के बहुत से विद्यार्थी पढ़ते हैं और इसके पास लोक साहित्य तथा हाशिए के लेखन का प्रचुर भण्डार है। 2003 में हमने यूजीसी को एक परियोजना प्रस्ताव भेजा। यूजीसी ने हमें अपने प्रस्ताव के विषय में बात करने के लिए बुलाया और हमारे प्रस्ताव से वह सन्तुष्ट हो गया तथा अंग्रेजी विभाग के लिए यूजीसी-एसएपी-3-डीएसआई से योजना को स्वीकृति मिल गई। इस परियोजना का मुख्य लक्ष्य इस क्षेत्र के मौखिक और लोक साहित्य तथा बंगाल के दलित साहित्य का संग्रह एवं अनुवाद था। मुख्य उद्देश्य था, इसको अंग्रेजी में प्रकाशित करना जिससे कि पाठ की सांस्कृतिक छवि अभिव्यक्त हो सके जो शताब्दियों तक मूक और हाशिए पर थी। मुझे बताते हुए बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि अब तक एक अनूदित संग्रह प्रकाशित हो चुका है। हमने दलित साहित्य का एक निबन्ध संग्रह भी सम्पादित किया है जो जल्द ही प्रकाशित होने वाला है। हमलोग जनजातीय लोक साहित्य तथा कविताओं को संकलित कर उनके अनुवाद का संग्रह प्रकाशित करना चाहते हैं। इसी संग्रह के सन्दर्भ में हमलोग जी.एन. देवी के भाषा रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन सेण्टर तथा जनजातीय एकेडमी, तेजगढ़ के सम्पर्क में लगातार हैं। यह केन्द्र 1996 में स्थापित किया गया था तब से यह लुप्तप्रायः मातृभाषाओं के संरक्षण के लिए संघर्ष कर रहा है तथा वह भारत के हाशिए के समुदायों की लोक परम्पराओं के संरक्षण के लिए भी प्रयास कर रहा है। देवी ने मार्च 2010 में भाषा सम्मेलन बड़ौदा में आयोजित किया था जिसमें हमलोग शामिल हुए। सम्मेलन में भारत की भाषाओं के दस्तावेजीकरण की पहल की कार्य योजना बनाई गयी थी। प्रत्येक राज्य और संघशासित क्षेत्र के लिए व्यक्तियों तथा संगठनों का चुनाव किया गया था। इस प्रक्रिया में हमलोग को पश्चिम बंगाल की जिम्मेदारी दी गई थी और अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद हमने यह दायित्व निर्वहन स्वीकार किया और बड़ी विनम्रता से पूरा प्रयास किया कि जो आवश्यक हो वो पूरा किया जा सके।

इन्द्रनील आचार्य– भाषा सर्वेक्षण के मुद्दों की मेरी समझ मुख्यतः इसके लिए आयोजित कार्यशालाओं में शामिल होने के कारण विकसित हुई। ये कार्यशालाएं दिसम्बर 2010 में पुरी में, जनवरी 2011 में किशन गढ़ (राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय) तथा विद्यासागर विश्वविद्यालय में 2011 तथा 2012 में हुई कार्यशालाओं और जनवरी 2012 में हुई भाषा वसुधा तथा अप्रैल 2012 में राष्ट्रीय सम्पादकीय समूह की बैठक में हुई। डी.पी. पट्टनायक, के.के. चक्रवर्ती, जी.एन. देवी, महाश्वेता देवी, नारायण भाई देसाई तथा अन्य विद्वानों तथा संस्कृतिकर्मियों के विचारों से इन मुद्दों के बारे में समझ स्पष्ट हो सकी।

मेरी राय में निम्नलिखित मुख्य मुद्दे हैं जिनके कारण पश्चिम बंगाल में भाषा लोक सर्वेक्षण कराना आवश्यक लगा–

- शिक्षा क्षेत्र में असूचीबद्ध भाषाओं की पूर्णतः उपेक्षा– प्राथमिक और माध्यम शिक्षा के क्षेत्र में विशेषतः उनकी उपेक्षा।
- इन असूचीबद्ध भाषाओं में लिखित साहित्य को मान्यता न देना।
- पश्चिम बंगाल की आदिवासी असूचीबद्ध भाषाओं के अस्तित्व के बारे में मुख्यधारा के शिक्षित बुद्धिजीवियों में पूर्णतः जानकारी का अभाव।

- बहुत सी आदिवासी भाषाओं के संकटापन्न और लुप्तप्राय: होने का खतरा। अगली पीढ़ी में यह गंभीर संकट होगा क्योंकि धीरे-धीरे लोग अपनी मातृभाषाओं के प्रति रुचि नहीं रख रहे हैं और बंगाली भाषा को अपना रहे हैं जो कि राज्य की प्रभावशाली भाषा है।

शंकर सिंघा- साहित्य के विद्यार्थी के नाते भाषा से जुड़े मुद्दों से मेरा लगाव रहा है और हाशिए की भाषाओं से लगाव थोड़ा कम रहा है; किन्तु पी.एल.एस.आई. के साथ मेरे जुड़ाव के कारण मैंने यह महसूस किया कि यद्यपि, भाषा व्यक्ति की सम्वेदना और समझ को प्रभावित करती है किन्तु यह सम्वेदनशील मुद्दा उन लोगों के लिए होगा जिनके दृष्टिकोण को बहुत महत्त्व दिया जाता है। भाषा किसी समुदाय के जीवन को प्रभावित करती है। भाषा का अध्ययन इसके विकास की प्रक्रिया के द्वारा करने से हम बेहतर ढंग से उसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक शक्तियों को समझ सकेंगे जो किसी समाज में एक समय से वर्चस्व की स्थिति में है। हम पाएंगे कि किस प्रकार प्रभुत्वशाली संस्कृतियाँ और भाषाएँ कम प्रभावशाली समुदायों और उनकी भाषाओं तथा संस्कृतियों को हाशिए पर धकेल देती हैं। भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं है। अपितु यह विश्व के विश्लेषण और उसे समझने का माध्यम है। यह किसी समुदाय विशेष की विश्वदृष्टि का प्रतिनिधित्त्व करती है। इसलिए भाषा का पतन एक तत्त्व मीमांसीय व्यवस्था का पतन है जिसके पास विश्व की महत्त्वपूर्ण धरोहर है। मानवजाति भाषाओं की मृत्यु को सहन नहीं कर सकती। जिस प्रकार जैविक व्यवस्था के लिए जैविक विविधता अपरिहार्य है उसी प्रकार भाषिक एवं सांस्कृतिक विविधता भी मानव जाति के लिए आवश्यक है।

इन्द्रनील आचार्य- हमलोगों ने तय किया कि पी.एल.एस.आई. के कार्य के लिए भाषा समुदाय से जुड़े लोगों को ही शामिल किया जाए। कुछ मामलों में जैसे बेडिया, खरिया/सावर, शेरपा, दुकपा, लिम्बू तथा टोटो, हमें उस भाषा समुदाय के बाहर के लोगों को शामिल करना पड़ा क्योंकि हमें उन भाषा समुदायों से लोग नहीं मिल सके किन्तु यह देखकर अच्छा लगा कि आदिवासी और गैर आदिवासी दोनों ही तरह के प्रतिभागी कार्यशालाओं में शामिल हुए तथा उन्होंने बातचीत में हिस्सा लिया। इसके बावजूद, कुछ भाषा समुदायों से सम्बन्धित भाषा का इतिहास तथा सन्दर्भ की सूची सन्तोषजनक ढंग से तैयार नहीं की जा सकी जिनमें बैगा, महाली, बीडिया, शेरपा तथा दुकपा शामिल हैं। इसका कारण यह था कि इस कार्य के लिए जिन लोगों ने जिम्मेदारी ली थी उनके पास इस कार्य के लिए आवश्यक विशेषज्ञों का अभाव था जिससे वे उन भाषाओं के इतिहास के सन्दर्भ में अच्छी तरह से नहीं लिख सके।

अनेक सहयोगी पी.एल.एस.आई. के कार्य के ऐतिहासिक महत्त्व को नहीं समझ सकते, फिर भी वे इस बात से सहमत हैं कि उनके समुदाय के सांस्कृतिक स्रोत को बाहरी दुनिया में पहली बार व्यापक पैमाने पर दिखाया जा रहा है। इनमें से अधिकांश इस बात के लिए आशान्वित हैं कि इस प्रकार की प्रस्तुति से समुदाय को बाहर के लोगों से सहायता मिलेगी जिससे उनकी स्थिति में निकट भविष्य में सुधार होगा। बहुत से लोगों को लगा कि सरकारी एजेंसियां और नीति-निर्माता अब उनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाएंगे।

शंकर सिंघा- यह अच्छी बात है कि हम इस कार्य में विभिन्न समुदाय के प्रतिनिधियों को शामिल कर सके। वे विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक पृष्ठभूमि के लोग हैं। इन सभी में एक ही बात सामान्यतया उनको जोड़ती है, वह है इन सभी की अपनी भाषाओं के प्रति लगाव की भावना। वास्तव में, कुछ समुदाय के प्रतिनिधि ही सीधे यह जानना चाहते हैं कि इस कार्य में कितनी प्रगति हुई। इन लोगों में अपनी भाषा के प्रति सम्मान की भावना जागृत हो गई है और अब वे महसूस करते हैं कि यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है।

इन्द्रनील आचार्य- पश्चिम बंगाल में पी.एल.एस.आई. के कार्यों को कई कार्यशालाओं के माध्यम से किया गया जो मार्च तथा अगस्त 2011 तथा फरवरी 2012 में हुई थीं। इसके अतिरिक्त, हमने पश्चिमी बंगाल के कई भाषा

समूहों को अपने विभाग में बुलाया और विश्वविद्यालय में भाषा की प्रविष्टियों के सफलतापूर्वक कार्य पूरा करने के लिए बैठक की। हमने जी.एन. देवी. के साथ कई बार बातचीत की। जब कभी भी वे हमारे विश्वविद्यालय में या कोलकाता में उस समय आए जब प्रविष्टियां लिखी जा रही थीं।

पी.एल.एस.आई. का कार्य समुदाय के प्रतिनिधियों, सहयोगियों तथा तकनीकी और सचिवालयी सहायता करने वाले अनेक लोगों के पूर्ण सहयोग से ही सम्भव हो सका। यूजीसी ने एस.ए.पी. (विशेष सहायता कार्यक्रम) के अन्तर्गत आदिवासी भाषाओं और धरोहर के दस्तावेजीकरण तथा अनुवाद के लिए उदारतापूर्वक वित्तीय सहायता प्रदान की। इससे पी.एल.एस.आई. के कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में सहायता मिली। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय के सभी संकाय सदस्यों ने बांग्ला खण्ड की तैयारी और इसके अंग्रेजी अनुवाद में अत्यधिक रुचि दिखाई। यह खण्ड पी.एल.एस.आई. के पश्चिम बंगाल से सम्बन्धित है और आशा की जाती है कि यह ऐतिहासिक शोध दस्तावेज बनेगा और समाजभाषा विज्ञान, सांस्कृतिक भाषा विज्ञान तथा नृतत्त्वशास्त्र के भावी शोधार्थियों के लिए लाभदायक होगा। यह खण्ड पश्चिम बंगाल के सभी आदिवासी समूहों की सांस्कृतिक पहचान को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करेगा। इससे नई नीतियों का निर्माण भी किया जा सकेगा जिसमें प्रत्येक देशज समुदाय को स्वतन्त्र स्थान मिलेगा।

यह अपने ढंग का पहला अनोखा प्रयास होगा क्योंकि यह राज्य की भाषा का पहला ऐसा दस्तावेज होगा जिसमें बंगाली को अन्य अल्पज्ञात रूप तथा गैर अनुसूचित भाषाओं के साथ रखा जाएगा। इसकी तुलना तथा विषमता विभिन्न दृष्टियों से देखी जा सकेगी। यह एक ऐसा अवसर बना जो पहले कभी नहीं मिला। पुस्तक की महत्ता बहुत अधिक है। विद्यालयों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में इसको स्थान मिलेगा। भविष्य में, जब भी पश्चिम बंगाल में भाषा सर्वेक्षण होगा तो यह उसके लिए आधार पुस्तक बनेगी। इसके अतिरिक्त, इसकी सूचनाओं पर आधारित अलग-अलग समुदायों पर वृत्तचित्र भी बनाए जा सकते हैं और लोकगाथाओं पर फिल्में भी बनाई जा सकती हैं।

मुझे लगता है कि पश्चिम बंगाल से सम्बन्धित खण्ड में निम्नलिखित भाषाओं को शामिल किया जाना चाहिए था :

- असुरी (ऑस्ट्रो-एशियाटिक) भाषा एक संकटापन्न भाषा है। उत्तरी बंगाल की संकटापन्न भाषाओं के एक खण्ड में इसका उल्लेख किया है किन्तु निर्धारित प्रारूप में इसका विस्तृत विवरण दिया जाना चाहिए था।
- बिरजिया (ऑस्ट्रो-एशियाटिक) भाषा भी दार्जिलिंग और जलपाईगुडी के चाय बागानों के मजदूरों की भाषा है। 1981 की जनगणना में इसको बोलने वाले सिर्फ 913 बताए गए हैं।
- हाजोंग (इण्डो-आर्यन) भाषा मूलतः मेघालय की एक भाषा है किन्तु 1981 की जनगणना में इसके समुदाय के लोग पश्चिम बंगाल में 1035 थे। यह 2001 की आर.जी.आई. की सूची में भी शामिल है।
- किसान या नागासिया किसान भाषा मुख्यतः उड़ीसा में बोली जाती है किन्तु पश्चिम बंगाल में इसे बोलने वाले किसान जलपाईगुडी तथा दार्जिलिंग में मिलते हैं, खासतौर से दूसरी ओर तराई में। इसे बोलने वाले चाय बागानों के मजदूर हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार इनकी संख्या 5370 थी। यह 2011 की जनगणना के आर.जी.आई. में भी शामिल है।
- चकमा 1981 की जनगणना के अनुसार 141 लोगों की भाषा है। यह 2001 की आई.जी.आई. की सूची में शामिल है।
- मघ (तिब्बतो-चाइनीज परिवार) मुख्यतः त्रिपुरा की भाषा है। 1981 की जनगणना के अनुसार पश्चिम बंगाल

में इनकी संख्या 1020 थी। यह 2001 की जनगणना की आर.जी.आई. की सूची में शामिल है।

- गोण्डी द्राविडियन भाषा परिवार की भाषा है। गोण्ड पश्चिम बंगाल में 1981 की जनगणना में शामिल हुए थे। इनकी संख्या 4923 थी। यह 2001 की जनगणना की आर.जी.आई. की सूची में शामिल है।
- कुई/कुवी का सम्बन्ध द्राविडियन भाषा परिवार से है। 2001 की जनगणना में इसके बोलने वालों की संख्या सिर्फ 13 थी (यह आर.जी.आई. द्वारा प्रकाशित आंकड़ा है)।
- उत्तरी बंगाल की संकटापन्न भाषाओं में जिन अन्य भाषाओं का उल्लेख हुआ है, वे हैं थारू, जाल्दा, कोया, धौलिया, रौतिया तथा मागर। यदि सम्भव हुआ तो इन भाषाओं को ज्यादा विस्तार से सामने रखा जाएगा।

शंकर सिंघा– हां, हमारा यह खण्ड अंग्रेजी में अनूदित हो रहा है। हमने तुलनात्मक साहित्य विभाग, जाधवपुर विश्वविद्यालय के संकाय सदस्यों से अनुरोध किया है कि बंगाली, नेपाली तथा कुछ आदिवासी भाषाओं की प्रविष्टियों का अंग्रेजी अनुवाद करें। उन्होंने कार्य पूरा करने की सहमति दी है। उर्दू में लिखी प्रविष्टि का अंग्रेजी अनुवाद, अंग्रेजी विभाग, आलिया विश्वविद्यालय, पश्चिम बंगाल के संकाय सदस्य करेंगे। शेष अठारह भाषाओं को अंग्रेजी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय के छः संकाय सदस्यों में बांट दिया गया है जो इस पर कार्य कर रहे हैं। सतरूपा मजूमदार साह ने लेपचा की प्रविष्टि का अनुवाद कर दिया है और अब वे शेरपा तथा दुकपा सम्बन्धी कार्य करेंगे।

इन्द्रनील आचार्य– नहीं, मैं यह नहीं समझता कि अभी इस स्थिति में पश्चिम बंगाल सम्बन्धी यह खण्ड प्रकाशन के लिए तैयार है। मुझे यह लगता है कि हमें राज्य के उत्तरी बंगाल क्षेत्र में जल्दी-से-जल्दी जाना चाहिए जिससे कि लेपचा, शेरपा, तमांग, गारो, दुकपा और टोटो भाषाओं की मूल लोक गाथाओं का संकलन करना चाहिए। जो पाण्डुलिपि समीक्षा के लिए भेजी गई है उसमें हम लोक गाथाएं नहीं दे सके हैं। यही नहीं, हमें पश्चिम बंगाल के पी.एल.एस.आई. के कार्य कर रहे सहयोगियों से कहना होगा कि वे प्रकाशन हेतु प्रेस में भेजने से पहले अपनी प्रविष्टियां एक बार फिर पढ़ लें। आखिर में, कुछ भाषाओं के इतिहास का विकास भाषा के इतिहासकारों से भी कराया जाए।

5 भाषाका स्वत्व

संश्लिष्ट परियोजना

पिछले प्रकरण में विभिन्न राज्यों के समन्वयकों द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट से यह स्पष्ट होगा कि वे विशेषज्ञ क्यों पी.एल.एस.आई. की परियोजना में शामिल हुए। साथ-साथ अपने राज्यों में भाषिक विविधता के प्रति उनकी उन्मुखता का भी पता चलता है। इन विशेषज्ञों ने यह भी बताया कि पी.एल.एस.आई. के खण्डों के निर्माण की दिशा में जो प्रगति हुई है, उसमें वे आत्मालोचना भी कर रहे हैं। किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बृहद सर्वेक्षण में उन्होंने सामूहिक रूप से पी.एल.एस.आई. टीम के रूप में कार्य किया और यह मौजूदा किसी भी मॉडल या सामाजिक-भाषिक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। यह प्रतिभागियों एवं सहयोगियों के वास्तविक जीवनानुभव से निर्मित-विकसित हुआ है। पी.एल.एस.आई. के राज्य स्तरीय खण्ड सम्पादकों एवं समन्वयकों ने देश के विभिन्न भागों से शामिल होकर सक्रियता से कार्य किया और वे पूर्णतः इस बात से परिचित थे कि पी.एल.एस.आई. इस बात को प्रतिबिम्बित करेगी कि विभिन्न भाषा-भाषी समुदाय अपनी भाषाओं को किस रूप में समझते हैं और उनकी अपनी भाषाओं के विषय में क्या धारणा है। इस बात को बार-बार इसलिए रेखांकित करने की आवश्यकता है क्योंकि यह पी.एल.एस.आई. की विशिष्टता, उसकी शक्ति एवं उसकी परिधि को भी स्पष्ट करती है। यदि पी.एल.एस.आई. विशुद्ध रूप से एक भाषिक सर्वेक्षण रहा होता तो इसको बिल्कुल अलग तरह से अभिकल्पित किया जाता और इसका स्वरूप पूर्णतः अलग तरह से निष्पादित होता। चूंकि यह 'लोक सर्वेक्षण' है इसलिए अवधारणा और निष्पादन समावेशी भागीदारी तथा सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुरूप हुआ। इस प्रकार की परियोजना की कुछ सीमाएं होती हैं, जहां तक विद्वतापूर्ण कार्य का प्रश्न है। फिर भी इसको ताकत इसकी विशालता या व्यापकता से नहीं मिलती अपितु मुख्यतः इस बात से मिलती है कि पी.एल.एस.आई. ने हाशिए की आवाजों को एक मंच दिया है।

जब पी.एल.एस.आई. का कार्य पूरा होने को था और विभिन्न खण्डों में प्रकाशन के लिए सामग्री सम्पादक की डेस्क पर आने लगी तो मैंने यह महसूस किया कि पी.एल.एस.आई. के अध्यक्ष के रूप में यह मेरी जिम्मेदारी है कि मैं आमलोगों को स्पष्ट करूं कि पी.एल.एस.आई. की विशिष्ट प्रकृति क्या है जिससे कि पी.एल.एस.आई. को भ्रामक रूप से कोई सरकारी रिपोर्ट या पूर्णत: बौद्धिक शोध सर्वेक्षण न समझ लिया जाए क्योंकि इसका उद्देश्य इन दोनों में से नहीं है। यह अलग बात है कि भारतीय भाषाओं के सरकारी सर्वेक्षण या समग्र शोध पूर्ण सर्वेक्षण के अभाव में पी.एल.एस.आई. कुछ समय तक इस अभाव की पूर्ति करे। यद्यपि, पी.एल.एस.आई. के सन्दर्भ में यही उचित होगा कि उसे अपने सम्यक परिप्रेक्ष्य में जैसा है वैसा समझा जाए न कि जो नहीं है वैसा समझा जाए। जुलाई-अगस्त 2013 में मैंने मीडिया से सम्वाद करना शुरू किया और बताया कि विभिन्न खण्ड 5 सितम्बर 2013 को लोकार्पित हो जाएंगे। इसको अच्छी प्रतिक्रिया मिली और भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी मीडिया में इसका व्यापक स्तर पर कवरेज हुआ। बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय समाचार पत्रों में भी इसकी कवरेज हुई, अनेक राष्ट्रीय समाचार-पत्रों ने इस पहल का स्वागत किया और इस पर स्तम्भ लिखे, विभिन्न पत्रिकाओं ने इस पर विशेष रिपोर्ट तैयार की और पी.एल.एस.आई. से जुड़े लोगों का साक्षात्कार प्रस्तुत किया।

चर्चा के दौरान कुछ सवालों के उत्तर देने पड़े जैसे 'कितनी भाषाएँ हैं?' तथा 'क्या वे जीवित रहेंगी?' फिर भी मुझे लगता है कि मीडिया ने भाषा जैसे विषय पर हमारी अपेक्षा से ज्यादा गंभीरता दिखाई। यद्यपि, यह जानते हुए कि पी.एल.एस.आई. के लोकार्पण के अवसर पर मीडिया की उपस्थिति तथा परियोजना के बारे में पूछे गए सवाल और चर्चा जल्दी ही खत्म हो जाएगी, मेरे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मैं मीडिया से अलग पी.एल.एस.आई. के गंभीर पाठकों को भाषा सम्बन्धी अपने विचारों से परिचित करवाऊं। मेरे निबन्ध 'दी बीइंग ऑफ भाषा' (देवी, 2009) के निम्नलिखित खण्डों का परिचय दिया जा रहा है, इस उम्मीद के साथ कि उसमें भले ही पर्याप्त चर्चा न की गई हो पर पी.एल.एस.आई. (भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण) आन्दोलन की दार्शनिक संकल्पना का पता चलता है।

जब 'ऑफ मैनी हीरोज' 1997 में प्रकाशित हुई तब मैं भारत की मौखिक साहित्य की दिशा में गहराई से विचार करने लगा था। आदिवासी साहित्य के द्विभाषिक प्रकाशन की श्रृंखलाबद्ध योजना के अनुसार मैं आदिवासी विद्वानों से पाण्डुलिपियां एकत्रित करने लगा था। इसके अतिरिक्त, मैं पश्चिमी भारत में बोली जाने वाली कई आदिवासी भाषाओं का 'कालपरक संग्रह' प्रकाशित करने की योजना तैयार कर रहा था। ये ऐसी भाषाएँ थीं जिनकी कोई लिपि नहीं थी। लिपि का निर्धारण, उन लोगों से सामग्री तैयार करवाना जिन्होंने लिखित रूप में उन भाषाओं का कभी प्रयोग नहीं किया, तथा जो सामग्री प्रकाशित की जाएगी उसके लिए 'पाठक वर्ग' तैयार करना। इनके कार्यों में मेरी पूरी मानसिक ऊर्जा लग गई। इस प्रक्रिया में अनेक सांस्कृतिक विविधताएं देखी गईं। मैं एक गांव से दूसरे गांव, एक आदिवासी समुदाय से दूसरे आदिवासी समुदाय तक जाते-जाते इस बात से पूर्णत: सहमत हो गया कि कोई भी बौद्धिक विमर्श भारतीय साहित्य या साहित्य सौन्दर्यबोध का तब तक पूरा नहीं होगा जब तक कि वह आदिवासी साहित्यिक परम्पराओं को शामिल नहीं करेगा। इस बात से मुझे बौद्धिक रूप से सुखद अनुभूति हुई।

इस प्रक्रिया के आरम्भिक वर्षों में मौखिक परम्परा तथा आदिवासी भाषिक सृजनात्मकता की मेरी समझ लोक साहित्य और नृतत्त्व विज्ञान के मौजूदा अध्ययन के दायरे तक सीमित थी, किन्तु धीरे-धीरे यह दायरा मुझे अपर्याप्त लगने लगा। कुछ समय तक तो मैं भारत की आदिवासी भाषाओं और साहित्य के विश्लेषण की अपनी समझ विकसित करता रहा। उदाहरण के लिए, 1997 में डांग जिन्हें आदिवासी सहयोगियों के साथ एक बैठक में मैंने तर्क दिया कि 'प्रतिभा कुछ सांस्थानिक समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा विकसित एक पूंजीवादी साहित्यिक कसौटी

है। जबकि स्मृति (Memory) एक ऐसी कसौटी है जिसका विकास उन समुदायों ने किया जो यथार्थवाद की क्षमता खोए नहीं।' हैदराबाद में 1998 में हुई एक और बैठक में मैंने तर्क दिया कि 'भारत में वन-विनाश और भाषाओं के वाग्लोप में सीधी समानता है।' मैंने जल्दी ही यह महसूस किया कि इन अवधारणाओं को इतिहास या तर्क के आधार पर सही साबित करना सम्भव नहीं था इसलिए मैंने निष्कर्ष निकाला कि इन मुद्दों पर सिद्धान्त निरूपण करने के लिए आदिवासी भाषाओं के साहित्य की और अधिक जानकारी की जरूरत है। यद्यपि, मेरे मन में इस बात को लेकर कोई संशय नहीं था कि भारतीय साहित्य या सौन्दर्य बोध का भी अध्ययन तब तक अधूरा रहेगा जब तक उसमें आदिवासी मौखिक परम्परा को शामिल न किया जाए। इसलिए मैंने तय किया कि भारत में साहित्य सिद्धान्तों के ज्ञात स्रोतों के समानान्तर भारतीय भाषाओं में साहित्यिक सृजनशीलता के उदाहरणों को रखा जाए।

इस समय भारतीय साहित्य सिद्धान्तों पर चल रहे मेरे कार्य की पाण्डुलिपि जो लम्बे समय से खोई हुई थी, मुझे मिल गई। ओरियंट ब्लैकस्वॉन ने 2003 में इसे 'दी इंडियन लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : थ्योरी एण्ड इन्टरप्रिटेशन' शीर्षक से प्रकाशित किया। उसी वर्ष मेरे द्वारा सम्पादित एक पुस्तक पेंगुइन ने 'पेंटेड वर्ड्स : लिट्रेचर ऑफ आदिवासीज एंड डीनोटिफाइड कम्यूनिटीज' शीर्षक से प्रकाशित की। इन दोनों पुस्तकों को एक साथ पढ़ा जाए, यह उद्देश्य था। भारत में साहित्य और कल्पनात्मक अभिव्यक्ति प्राचीन प्राकृत और संस्कृत, मध्यकालीन फारसी और अरबी तथा भाषा और अंग्रेजी तथा अभी तक आदिवासी लोगों की लिपि विहीन भाषाओं से लेकर घुमन्तू जातियों की कूटभाषाओं तक पसरी है। भारतीय साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र इन सब में निहित है और यह इनके पारस्परिक सम्पर्क और टकराव के माध्यम से आगे बढ़ा है। भारत की सृजनात्मक अभिव्यक्ति की परम्परा में 'साहित्य' के अन्तर्गत लिखित और मौखिक दोनों शामिल हैं। दोनों का विच्छेद एक अथवा दोनों के लिए खतरनाक होगा।

मुझे लिखित और मौखिक को परस्पर विरोधी सांस्कृतिक परम्परा में देखना कभी भी आवश्यक नहीं लगा। 'वाक्' साहित्य का मुख्य क्षेत्र है न कि लिपि, लिखित साहित्य में भी यही है। लिपियां उपयोगी हैं वे 'सुन्दर' भी हो सकती हैं किन्तु इसके बावजूद भाषिक सृजनशीलता के लिए वे अपरिहार्य नहीं हैं। वे किसी भाषा में आन्तरिक विस्थापन का कारण बन सकती हैं। भारत में अभी भी हमने किसी सैद्धान्तिक प्रतिमान का विकास नहीं किया है। जिससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि भाषाओं के संरक्षण और विकास में बोलियों का क्या महत्त्व है। कई तरह से भाषा का 'स्वत्व' बोलियों पर निर्भर रहा है जो उसके उदय में सूत्रधार रही हैं।

वाक्‌हीनता तथा भाषा-जल्लोश

मौन संप्रेषण का एक ऐसा जरिया है जहां भाषा की क्षमता है किन्तु भाषिक उच्चारण की इसमें आवश्यकता नहीं होती। यह 'वाक् विलोपन' नहीं है जो मानसिक या मनोवैज्ञानिक कारणों से मूक बना देता है। उदाहरण के लिए, एक गहन रहस्यात्मक अनुभूति में संरचनाबद्ध सम्वेदना या अवधारणा हो जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण बात के संप्रेषण की क्षमता हो किन्तु उस अनुभव को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना बहुत कठिन होता है। इसलिए मौन भाषा का अभाव नहीं है किन्तु एक बोली की तरह यह उस दायरे में सम्वाद करना चाहता है जिसके महत्त्व का अभी आकलन नहीं हुआ है। मौन में निहित स्पष्ट वाग्लोप की तुलना कोई चाहे तो उत्साहितिरेक की मानसिक स्थिति में सुखाभास से कर सकता है। मनोभाषा वैज्ञानिकों के अनुसार कुछ मानसिक विकार व्यक्ति के भाषिक व्यवहार को सीधे प्रभावित करते हैं। इस प्रकार के विकास व्यक्ति की बोलने की क्षमता को इतनी तेजी से बढ़ा देते हैं कि श्रोता उस भाषा का अर्थ नहीं समझ पाता। पाश्चात्य मनोविश्लेषकों ने उस उन्माद के एक हिस्से को 'हिस्टीरिया (मिर्गी)' बताया जिसके दौरान भाषा का जो उन्माद देखने को मिलता है उसे वैयाकरण समझ नहीं सकते। इस प्रकार उन्माद

और मौन दोनों ही अर्थ के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसा नहीं होता कि उन्माद या मौन के एक क्षण में भाषा का स्वाभाविक प्रवाह बाधित हो जाता है। ऐसा हो सकता है, या भाषा के प्रभावित होने की सम्भावना तभी होती है, जब मौन का विशिष्ट क्षण हो या उन्माद का दौरा आया हो। जब किसी भाषिक समुदाय की भाषा या उस भाषिक समुदाय द्वारा अपनाई गई भाषिक व्यवस्था को तोड़ा जाता है, या उसे उसकी भाषा से अलग किया जाता है, तब उस समुदाय की भाषा अपना सन्तुलन खो देती है तथा आत्म विघटन की प्रवृत्तियों को अपनाने लगती है।

मनोविश्लेषक बताते हैं कि पश्चिम में औद्योगिक अर्थव्यवस्था तथा राष्ट्र-राज्य के बीच जिस तरह लम्बे दौर तक कोई सम्बन्ध नहीं था ठीक उसी तरह की स्थिति भारत में औपनिवेशिक काल में हुई। भारत को पश्चिम के साथ सम्बन्ध के माध्यम से नए प्रकार के ज्ञान और संस्कृति की विविधता की, अपराध की प्रवृत्ति और उन्माद के विश्लेषण में जो अवधारणा थी वही भारत में वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में स्वीकार कर ली गई। आज भी हमारी दण्ड संहिता पूर्णतः अंगेज़ों की अपराध की समझ पर आधारित है, और मानसिक रुग्णता का उपचार सिगमण्ड फ्रायड के आस्ट्रियन मनोविश्लषण पर ही आधारित है। उन्माद की अवधारणा को अपराध समझना और उसे असामान्य मानकर चुनौती के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। यह उसी तरह से हुआ जैसा कि ज्ञान के अन्य दूसरे क्षेत्रों में हुआ है।

यह आवश्यक है कि हम जानें कि क्या उपनिवेशकाल के पहले भी भारत में पागलपन की अवधारणा थी? क्या हम *महाभारत* में किसी भी पात्र को पागल मान सकते हैं? क्योंकि इस महाकाव्य में बहुत से पात्र हैं! क्या भारतीय परम्परा या भारतीय परम्पराओं में कोई ऐसा चरित्र था जिसे पश्चिमी मनोविज्ञान के आधार पर पागलपन या उन्माद कहा जा सकता हो? ऐसा क्यों हुआ कि महान चिन्तक और रहस्यमयी रामकृष्ण परमहंस ऐसी बहुत सी बातें करते हैं जिसे पाश्चात्य मनोविश्लेषक असामान्य मानते हैं किन्तु वह भारतीय चिन्तन के लिए स्पृहनीय है।

श्री रामकृष्ण परमहंस ने ऐसी आनन्दानुभूति का अनुभव किया जिसे भारतीय रहस्यवाद की शब्दावली में 'तुरीयावस्था' कहा जाता है जो परम आनन्द की तैयारी है जिसमें 'स्व' और 'पर' अथवा प्रकृति और संस्कृति, लौकिक और अलौकिक में कोई भेद नहीं होता। इस प्रकृति की चेतना की अवस्था में कोई द्वैत नहीं होता। यह भी माना जाता है कि व्यक्ति पूर्णतः ईश्वरीय सत्ता से तादात्मीकृत हो जाता है। रामकृष्ण के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने उसी आनन्दानुभूति को प्राप्त किया था जो हमारी परम्परा में 'सामान्य' मानी जाती है और वह 'उन्माद' या पागलपन' के निकट है। यह रहस्यवादी एकात्मकता का एक रूप है।

विभिन्न भारतीय परम्पराओं में असामान्य व्यक्तित्त्व रखना सामान्य मानवीय अवस्था के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। ऐसे लोगों को न तो समाज से बाहर किया जाता रहा है न उन्हें पागलखाने भेजा जाता रहा है। आज भी भारत में पागलखानों को सरकार की जिम्मेदारी के दायरे में ही देखा जाता है, न कि उसे परोपकार की भावना से किया गया 'कार्य' माना जाता है। परिवार को कहा जाता है कि ऐसे लोगों को परिवार का सामान्य सदस्य ही समझें। भारतीय समाज में उन लोगों के लिए भी जगह थी जो उन कार्यों को छोड़कर कुछ नया प्रयास करने लग जाते थे, जिनके लिए उन्हें प्रशिक्षित किया जाता था। परिवार और समुदाय पारम्परिक रूप से उनको भी जगह देते थे जिनके नैतिक व्यवहार पर सवाल भी खड़े किए जा सकते थे, उन्हें स्वीकार करके अथवा कम-से-कम उनके प्रति सहिष्णु बनकर।

लगभग 25 वर्ष पहले मुझे बड़ौदा जिला कारागार के कैदियों से साक्षात्कार करने का अवसर मिला जो हत्या की सजा काट रहे थे। ज्यादातर मामले ऐसे थे जिसमें उन्होंने अपने करीबी रिश्तेदारों की हत्या की थी। जब मैंने पूछा कि यहां से छूटने के बाद वे कहां जाएंगे तो उनका जवाब एक ही था कि वे अपने परिवार के पास जाएंगे जहां उनकी माता या पत्नी उनका इंतजार कर रही थी। यह कहना उनकी समझ से उन परिस्थितियों में अत्यंत स्वाभाविक

दिख रहा था। किसी ने भी परिवार से बहिष्कृत होने की कोई आशंका नहीं व्यक्त की। भारतीय परिवार और समाज व्यवस्था ने हाल के दिनों तक मानसिक रूप से असामान्य व्यक्तियों के लिए भी काफी जगह दी है। स्वाभाविक रूप से हम यह भी जानते हैं कि परिवार में ऐसे लोगों के प्रति थोड़ी क्रूरता और उपेक्षा रही है; किन्तु सामाजिक स्तर पर मानसिक रूप से बीमार व्यक्तियों को अलग-थलग कर देना भारत में उपनिवेशकाल के पहले नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा और पाश्चात्य ज्ञान प्रारूप का अनुसरण करके हम आज ऐसी स्थिति में पहुंच गए हैं जहां हम किसी भी असामान्य व्यवहार को तेजी से खारिज करते जा रहे हैं।

विद्यालय के स्तर पर आज हम देखते हैं कि बच्चों को 'पागलपन' की छोटी सी हरकत से अत्यधिक हतोत्साहित किया जाता है। रबीन्द्रनाथ टैगोर ने इस बात के महत्त्व को समझा कि बच्चे जैसे हैं वैसे उन्हें स्वीकार किया जाए। उन्होंने पूरा जीवन 'चेतना के विस्तार' को प्रोत्साहित करने में लगा दिया जिससे बच्चों का मानसिक स्तर पर खुद से सम्वाद हो। आज ऐसी छूट नहीं है।

इसी प्रकार हमारी संप्रेषण की परम्परा में मौन को महत्त्व दिया जाता था। पारम्परिक रूप से सौन्दर्यशास्त्र 'शान्त' के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा है। अत्युच्च कला को ऐसी समाधि की अवस्था माना गया है। जिसमें पूर्ण सन्तुष्टि मिले, यही परमावस्था है। अभिनव गुप्त ने माना कि सभी 'रसों' का परमोत्कर्ष सभी के सामंजस्य से ही होता है जिसे 'शान्त रस' के रूप में उन्होंने व्याख्यायित किया। (मैसन तथा पटवर्धन (Masson and Patwardhan), 1969)। महाभारत का वैशिष्ट्य इसमें निहित 'शान्त रस' है जिसके कारण यही उसकी चरम सौन्दर्यात्मक उपलब्धि बन गई। उपनिषदों में हमेशा अन्त में मंगल कामना व्यक्त की गई है जिसमें मौन अभिव्यक्त होता है, यह सभी तरह की सोच के बाद आता है। इस प्रकार भारतीय समाज में मौन का प्रमुख सांस्कृतिक महत्त्व है।

आज हम मौन की अनुभूति करने या उसे सम्मान देने में सक्षम नहीं हैं, न ही हम अपने स्वत्व या अस्तित्व के अपरिहार्य तत्त्व के रूप में उन्माद के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाने में सक्षम हैं। यह उन्माद और मौन के लिए कम हुई सांस्कृतिक जगह के कारण है जिसके कारण, जिसे हम भाषा कहते हैं, वह प्रभावित हो रही है। हम अपने 'स्वत्व' (अस्तित्व) को अपनी समझ के द्वारा देखने में सक्षम नहीं हैं। यह ज्यादातर इसलिए है कि आज हमारी भाषा के स्वत्व की समझ से यह बात जुड़ी है। भाषा की आन्तरिक सज्जा जो अतीत में मौन और शैली की असामान्य अभिव्यक्ति में मिलती थी, वह तेजी से उजाड़ दी गई है। अब उन जगहों पर साम्प्रदायिक उन्माद में जनता के धार्मिक भजनों और अर्थ-केन्द्रित अर्द्ध वैज्ञानिकता का प्रसार हो गया है।

कहानी की कहानी

हम तर्क कर सकते हैं कि चेतना अवधारणात्मक दुनिया की फैंटेसी है। हम नहीं जानते कि दुनिया उसके बाहर होती है या नहीं; किन्तु हम सभी यह मानते हैं कि वह है और हम इस मान्यता को सत्य ही समझते हैं। बाह्य जगत के साथ अपने साक्षात्कार में हम जिस तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पाते हैं, वह भाषा है। भाषा ही एकमात्र ऐसी चीज है जो चेतना को विश्व जगत में शब्दों के माध्यम से आने देती है। यदि हमारे पास मध्यस्थ के रूप में भाषा नहीं होती तो 'उस' बाह्य जगत को नाम देना सम्भव नहीं होता और तब वस्तुओं को नाम नहीं दे पाते जो पहले से ही वहां मौजूद हैं। भाषा मनुष्य के द्वारा विकास की प्रक्रिया में अर्जित एक विशिष्ट तत्त्व है जो उसे अन्य सभी प्राणियों, पशुओं से अलग करती है।

ऐसा क्यों है कि सिर्फ मनुष्य ने ही इतनी उन्नत स्तर की भाषा को विकसित किया जिसमें अत्यधिक संरचनात्मक जटिलता है? यह सही है कि कुछ अन्य प्राणियों में भी एक प्रकार की भाषा होती है, जैसे मधुमक्खी। वे नृत्य

एवं संप्रेषण करती हैं और उनका संप्रेषण पर्याप्त भी होता है। वास्तव में, उसका अपना व्याकरण होता है। भाषा के अर्थपूर्ण होने की एक न्यूनतम शर्त है कि उसे एक 'मान्य' वाक्य पद्धति को इस तरह से निर्मित करने में सक्षम होना चाहिए कि वह जब भी संप्रेषित हो तो कमोबेश एक जैसा अर्थ दे। इस प्रकार, मधुमक्खियां, नृत्य और संप्रेषण करती हैं और जब पुनः कुछ कहना चाहती हैं तो वैसा ही नृत्य करती हैं। डॉलफिनों की अपनी अलग भाषा होती है और शायद चीटियों की भी अपनी भाषा जैसी कोई चीज होती है क्योंकि हम उन्हें कुछ संप्रेषित करते हुए देखते हैं। किन्तु 'अन्य प्राणियों' में भाषा के विकास के कुछ संकेतों के बावजूद मानव जाति ने ही उच्च स्तरीय जटिलता वाली भाषा विकसित की है जिसमें सुखाभास, हिस्टीरिया वातोन्माद, हर्षोन्माद तथा मौन को महत्त्वपूर्ण तरीका माना जाता है।

ऐसा क्यों है कि मनुष्य ने ऐसी भाषा का विकास किया जिसमें मनुष्य ध्वनि यंत्र का इस्तेमाल करता है और अन्य किसी अंग का नहीं जो संप्रेषण करने में समर्थ है? सिर्फ स्पर्श ही सब कुछ संप्रेषित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की आँखें अनेक अर्थ-छवियों को संप्रेषित करने में अत्यधिक सक्षम हैं। बहुत से प्राणियों ने दृश्य के द्वारा; मुख्य रूप से संप्रेषण की पद्धति विकसित की है। मनुष्य ने ही वाक् द्वारा भाषा के प्रयोग को विकसित किया है; वह ध्वनि को माध्यम के रूप में प्रयोग करता है। यद्यपि, यह भाषा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त साधन नहीं। आँखें ज्यादा अभिव्यक्ति का माध्यम हैं। मनुष्य की आँखें बहुत हिल-डुल सकती हैं और भावनाओं को पूर्णतः अभिव्यक्त कर सकती हैं। हालांकि, आँखें उम्र के साथ-साथ परिवर्तित होने लगती हैं किंतु आवाजों के साथ ऐसा नहीं होता। वैसे यह भी सच है कि बच्चों की आवाजें वयस्क होने पर बदल जाती हैं। यद्यपि, यह इतना बहुआयामी माध्यम नहीं है फिर भी ध्वनि किसी वस्तु की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं जबकि दृष्टि ऐसा नहीं कर पाती, खासतौर से उनको वे संबोधित नहीं कर पातीं जो किसी की आँख के ठीक सामने अर्थात् प्रत्यक्ष स्थित नहीं है। वागेन्द्रिय का कोई भी अंग– दाँत, जीभ, कंठ और नाक– वास्तव में बोलने के लिए नहीं बनाए गए थे। उन अंगों को बोलने के लिए तैयार करने में, इन अंगों के साथ समन्वय स्थापित करने में और उसे अर्थपूर्ण बनाने में कई युग लग गए।

सम्भवतः मनुष्य की शारीरिक संरचना ही ऐसी है जिसमें रीढ़ है जिसने उसे भाषा की निर्मिती करने के लिए बाध्य किया। यद्यपि, यह सुनने में बेतुका लगेगा कि मनुष्य ही अकेला ऐसा प्राणी है जो पृथ्वी पर अनुलंब के रूप में खड़ा होता है; अन्य प्राणी रेंगते हैं, उड़ते हैं या पृथ्वी के समानान्तर रहते हैं या तैरते हैं। अन्य सभी प्राणी प्राकृतिक व्यवहार करते हैं जबकि हम संस्कृति तक आ पहुंचे हैं। रीढ़ के कारण हम पृथ्वी की सतह से अलग हो जाते हैं इसलिए हम बाध्य हैं कि पृथ्वी तथा शेष विश्व से अपने सम्बन्धों को पुनर्निर्मित करें।

मानव जाति दो सीमाओं में बंधी है – स्थल और काल। किसी व्यक्ति के लिए स्थल और काल का अतिक्रमण कर जाना असम्भव ही है। नाटक 'हैमलेट' के अनुरूप कहा जा सकता है, "समय हमारे संयोजन के बाहर है, हत भाग्य! मैं इसे सुलझाने के लिए पैदा हुआ हूँ।" किंतु हम दो कालखण्डों को एक साथ मिला नहीं सकते, न ही समय को दो खण्डों में विभाजित कर सकते हैं। हम तो बस समय के साथ जी सकते हैं, वैसे ही जैसे हम स्थल के साथ जीते हैं। मनुष्य की चेतना जो अनिवार्यतः विश्व की एक फूंटेसी है, वह समय एवं स्थल के साथ जुड़ती है दो मानसिक संकायों की सहायता से – एक है स्मृति और दूसरी कल्पना। स्मृति ही हमें समय के साथ जोड़ती है। व्यक्ति याद रख पाता है कि वह आज भी वही व्यक्ति है जो कल था। दार्शनिक रूप से इस पर मतभेद हो सकता है। निश्चय ही अनन्यता की निरंतरता रहती है किंतु स्मृति ही यह सम्भव बनाती है। यह हमें छूट देती है कि हम समय की अवधारणात्मकता निर्मित करें, चाहे वह वास्तव में हो या न हो क्योंकि हम नहीं जानते कि समय हमारे मस्तिष्क के बाहर होता भी है या नहीं। स्मृति ही पहले हमें समय की अवधारणा बनाने की छूट देती है और जब अवधारणा बन जाती है तब स्मृति हमें समय के साथ साहचर्य बनाने की आदत डालती है।

कल्पना को यहाँ हम तकनीकी शब्द के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं, सौंदर्य बोधक शब्द के रूप में नहीं। कल्पना जैसा कि हॉब्स ने अपनी कृति 'लीवयाथन' में कहा, ''बिम्बमाला'' (stream of images) है। वस्तुओं के बिम्ब आँखों में हर पल प्रवेशते रहते हैं, यह हॉब्स के अनुसार कल्पना का उद्गम रहा है। कल्पना निर्माण की इसी शक्ति (प्रकाश के कारण) ही वस्तुओं को आँखों से देखने की क्षमता प्रदान करती है। हम उन वस्तुओं को देख सकते हैं जिससे प्रकाश का परावर्तन होता है। उन वस्तुओं, प्रकाश और आँखों के माध्यम से ही बाह्य जगत के बिम्ब हमारे मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं। मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि केवल इंद्रियों के माध्यम से सम्पूर्ण जगत को समझ सके या इंद्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से विश्व की हर चीज का अनुभव कर सके। मस्तिष्क द्वारा ग्रहण किए गए बिम्ब वहाँ संगृहीत हो जाते हैं और बाद में व्यक्तिगत धारणा के रूप में पुनर्निर्मित हो जाते हैं। स्मृति हमें व्याख्या करने में सहायक होती है। कल्पना हमारी सहायता करती है समय के परे जाने में। हम अवकाश पर कल्पना के द्वारा नियंत्रण करते हैं और समय पर स्मृति के द्वारा नियंत्रण करते हैं। भाषा, स्मृति तथा कल्पना एक साथ मिल जाती हैं और चेतना के कार्य को गति देती हैं जिससे चित्त विश्व की एक फैंटेसी निर्मित कर सके। यही कल्पित सत्य का आरंभ है।

इस आदान-प्रदान में एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी शामिल होता है। कल्पना के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह त्वरित गति से सामने आ जाए। इसके लिए कथन की आवश्यकता होती है। एक बार फिर मनुष्य की ही यह विशेषता दिखाई देती है जिसमें अन्यता की भावना होती है। मनुष्य का बच्चा ही अपने विकास की आरंभिक अवस्था में (क्योंकि मनुष्य का विकास बहुत धीमी गति से होता है और हम पूर्णतः विकसित होने में अन्य प्राणियों की तुलना में ज्यादा समय लगाते हैं) स्वयं अपने को विश्व की आँखों से फैंटेसी के द्वारा देखना ज्यादा सीख जाते हैं (लकान (Lacan), 1977)। मनुष्य की चेतना अस्तित्व की फैंटेसी का निर्माण कर देती है। इस कारण ही ऐसा नहीं होता बल्कि फैंटेसी के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसे स्वयं का एक ऐसा 'आत्म' निर्मित करने की क्षमता प्राप्त होती है जो कि फैंटेसी के रूप में हो। इसी से 'शर्म की भावना' दिमाग में आ जाती है। यह ठीक उस समय होता है जब बोलने की क्षमता बढ़ने लगती है। ऐसा नहीं है कि कहानी मौन रूप में ही आवश्यक हो जाती है क्योंकि दिमाग जानता है कि बाहर 'अन्य' भी हैं जो 'मैं' नहीं। बहुत से दूसरे जीव (प्राणी) इस अन्यता को पहचान नहीं पाते। चार तत्त्व ऐसे हैं जो हमें बाध्य करते हैं कि हम कहानी कहें – भाषा, स्मृति, कल्पना और अन्यता। पहले तीन तत्त्व गल्प का सृजन करते हैं और चौथी अजनबीपन या अन्यता हमें बाध्य करता है कि हम किसी अन्य को कहानी कहें। इस तरह से जटिल वाक् और शिष्ट वाक् वाले इंसानी समुदायों का जन्म होता है।

किंतु मानव विकास में अन्य बातें भी होती हैं। उदाहरण के लिए, स्मृति दोहरा हथियार है और यह मनुष्य को विकास की आरंभिक अवस्था में यह छूट देता है कि वह सब याद रखे। जो उपजा है उसे भविष्य के इस्तेमाल के लिए सुरक्षित रखा जाए। लेकिन बचत होने लगती है, पूँजी बढ़ती जाती है और श्रम का शोषण भी शुरू हो जाता है। तथा आदान-प्रदान शुरू हो जाता है। और जब यह सब होने लगता है तो जो दूसरों का उपयोग करके स्वयं को श्रम करने से बचा लेता है, उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह उन गतिविधियों को दर्ज करे। इस तरह से वे मूल्यांकन भी करने लगते हैं कि क्या वे उच्च श्रेणी में आते हैं, चित्रात्मक हैं या जलांक हैं ? और तब एक लिपि की रचना होती है।

आरंभिक लिपियों का मुख्य उद्देश्य गणना करना था। शुरुआत में उनका भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं था। शायद किसी लिपि को सबसे अच्छी तरह से पढ़ने वाला व्यक्ति निरक्षर ही होता है क्योंकि वह ज्यामितीय रूप को ही देख सकता/सकती है जबकि अन्य लोग 'अर्थ' देखते हैं जो कि मुख्यतः इस रूप में नहीं होता। सभी लिपियों का

विश्लेषण करने के बाद उन्हें चार-पाँच कोटियों में बाँटा जा सकता है। वे और कुछ नहीं अपितु ज्यामितीय रूपों की जटिल व्यवस्था है यह स्मरण करने के लिए कि क्या लेनदेन हुआ है। लिपियों में लालच की भावना का प्रबल प्रतिनिधित्व होता है। वाक् को लिपियाँ भयभीत करती हैं। तब लिपियाँ लेखक वर्ग को सांस्कृतिक धरोहर पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में सहायता करती हैं। और जब यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है तब पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान करने में सहायक बनती हैं। यहीं लिपियाँ सामाजिक जाल में आ जाती हैं।

मनुष्य की मानसिकता में एक अन्य तत्त्व है जो कहानियों को भयभीत करता है वह है खून। एक रहस्यात्मक भावना यह है कि मानव मस्तिष्क रिश्तों के लिए होता है तथा वह समूहों या झुण्डों का निर्माण करता है। यह आकर्षण समाजशास्त्र के लिए स्थाई चर्चा का विषय रहा है। जैसे स्मृतियों से लिपियों को सहायता मिलती है उसी तरह करीबी रिश्तों का निर्माण कल्पना के द्वारा होता है। इतिहास के निर्माण क्रम में नस्लों का निर्धारण होता है, राज्यों का निर्माण होता है और भौगोलिक सीमाओं की कल्पना की जाती है। पृथ्वी को कभी नहीं पता था कि उसके हिस्सों के नाम अमेरिका तथा इंग्लैण्ड या भारत के रूप में जाने जाएंगे। किंतु सुरक्षित सामाजिक समूहों के लिए आकर्षण तथा भय या आक्रमण दोनों की अभिव्यक्ति राज्य के स्वरूप में संस्थागत रूप अख्तियार कर लेते हैं। लिपि और राज्य समुदाय की आवाजों पर नियंत्रण कर लेते हैं तथा एक वाचाघात लागू करने का प्रयास करते हैं।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास यह बताता है कि हर समय इस प्रकार का वाचाघात वाक् समुदायों पर आरोपित किया जाता रहा है। लोक चेतना इस बाधा के सामने आ जाती है और चिन्हों के द्वारा निर्मित बाड़ को तोड़ने और स्वयं को परिभाषित करने का प्रबंध करती है। वह धर्मग्रंथों तथा लिपियों को चुनौती देती है और चिन्हों में हुए अधिक ह्रास की क्षति पूर्ति करती है। एक कहानी जिसे सभी भाषाएँ शुरुआत में एक साथ मिलाकर बनाने की कोशिश करती हैं वह कहानी फिर से बुन जाती है।

सत्य, गल्प और आभासी दुनिया (साइबर स्पेस)

यह तर्क करना सम्भव है कि चेतना व्यापक विश्व की फैंटेसी है। साथ-साथ यह भी तर्क दिया जा सकता है कि व्यापक विश्व मानव चेतना की आभासी अभिव्यक्ति है। हमारी चेतना से बाहर की दुनिया वहाँ है, किंतु पूर्णत: वहाँ नहीं है। इसलिए मानव जाति का हर व्यक्ति अपने लिए वस्तुओं का नया शब्दकोश निर्मित करता रहता है और स्वयं के लिए उनका 'महत्त्व' गृहीत बिम्बों के रूप में व्याख्यायित करने लगता है। अस्तित्व के साथ चेतना का व्यापक जुड़ाव ही मनुष्य की क्षमता है कि वह 'वास्तविक' को आभासी बना दे तथा 'आभासी' को वास्तविक बना दे। यही संकेतात्मक जगत के उद्देश्य को सार्थकता प्रदान करता है कि वह उसमें भौतिक प्रवेश के पहले मन-ही-मन पहुँच जाता है और उस सम्वेदनात्मक आदान-प्रदान की उत्पत्ति करता है जो अवधारणा का निर्माण करते रहते हैं।

हर प्रकार की वस्तुएँ सम्वेदनात्मक अवधारणाओं के रूप में सामने आती हैं। और हमें उन रूपों के महत्त्व को समझने की आवश्यकता पड़ती है। हमें यह भी आवश्यक लगता है कि उन वस्तुओं और उनके उद्देश्यों के बीच ठीक अंतस्सम्बन्ध को समझ सकें। घटनाओं, वस्तुओं तथा सम्वेदनात्मक अवधारणाओं की अनुभूति के हर क्षण हमें जानने की जरूरत होती है कि उन सब का क्या अर्थ है। किंतु मनुष्य का शरीर एक ऐसा तन्त्र है जो ब्रह्माण्ड में, जो कुछ भी है उसको पूरा ग्रहण करने में सक्षम नहीं है। हमारे समय में तथा हमारे समय से पहले ऐसा बहुत कुछ है और हुआ है जिसे हम सीधे सम्वेदनाओं के माध्यम से आत्मसात नहीं कर सकते। हमें मानव जीवन का यह जो अपर्याप्त तन्त्र मिला हुआ है कि हम अपने चारों ओर के यथार्थ को ग्रहण कर सके। उसको ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि मानव चेतना ने ऐसी रणनीतियाँ बना ली हैं जो हमारे चारों ओर की चीजों को समझ सकें। बिल्कुल प्रत्यक्ष

और विशिष्ट रूप में रणनीति है कि धर्म में शास्त्रीय ढंग से जिस बिम्ब की व्याख्या की गई है, वह ही है 'सत्य'।

उन लोगों के बारे में सोचिए जो घने जंगलों में रहे और नहीं जानते थे कि रोशनी के साथ क्या सम्बन्ध रखें – ऐसे लोग, प्लेटो (अफलातून) ने इनको अपनी 'केस स्टडी' का विषय बनाया था। प्लेटो ने एक व्यक्ति की आद्य बिम्बात्मक अनुभूति का अध्ययन किया जो गुफा के प्रवेश द्वार पर खड़ा रहता है और गुफा के अंदर फैली हुई अपनी छाया को देखकर चकित हो जाता है। वह नहीं जानता कि अपनी भावना को किस रूप में व्यक्त करे। वह डर जाता है। इस प्रकार उदात्त भय से आस्था का जन्म होता है और इसी को उदाहरण स्वरूप देकर विश्व की अवधारणा की व्याख्या रहस्यानुभूति के रूप में की जाती है।

'सत्य' और 'रहस्यानुभूति' मनुष्य की चेतना के द्वारा निर्मित ऐसी साक्षात्कार की श्रेणियां हैं जिनसे हम अपने चारों ओर विद्यमान सभी वस्तुओं को समझते हैं तथा उन वस्तुओं को जानते हैं और उनका अनुभव प्राप्त करते हैं जिन्हें हमारे पहले लोगों ने जाना या अनुभव किया। रहस्यानुभूति के सन्दर्भ में वे चीजें जो हमारे चारों ओर हैं किन्तु दृश्य नहीं हैं, न ही उनके साथ कोई प्रयोगजन्य अनुभव कर सकते हैं, तथा जो अस्तित्व का सतत अदृश्य तथा न देखा गया पक्ष है। सत्य तथ्यों के दायरे और रहस्योद्घाटन की खोज का प्रयास करता है जब हम फैंटेसी देखते हैं। जब हम सत्य के विभिन्न ऐतिहासिक रूपों को देखते हैं तब हम पाते हैं कि बार-बार इस तरह के प्रयास किए गए हैं कि सत्य को एक सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाए फिर भी हम पाते हैं कि अगली पीढ़ी सत्य के उस स्वरूप को स्वीकार नहीं करती।

प्राचीन भारत में हमने सत्य का एक सिद्धान्त देखा कि प्रत्येक पदार्थ का आधारभूत तत्व एक ही है। यह लगभग वैसा ही है कि विश्व के सभी पदार्थ 'अस्तित्व' से जुड़े हैं और उनका संयोजन सत्य एक ही है, चाहे पदार्थ अलग-अलग हों। आधार अर्थात् अदृश्य पक्ष अथवा पदार्थ का अन्त पटल, अनुभव, घटना या अवधारणा एक ही है किन्तु वह अव्याख्येय है। इसीलिए वैदिक दार्शनिकों ने इसका वर्णन समाज के पूर्वावस्था में किया और इसे 'यह' कहा। संस्कृत का 'तत' संयोजक है, आधार तथा भावना जो निर्जीव को सजीव बना देती है, पदार्थ को पदार्थमय तथा अवधारणा को अवधारणात्मक बना देती है। 'तत' चाहे पदार्थ हो, भावना हो, कल्पना हो या जो भी हो, इसकी व्याख्या शब्दों में नहीं की जा सकती। उस समय के संशयवादियों ने प्रश्न किया, "यह 'तत' क्या है? आपलोग इसके विषय में थोड़ा विस्तार से बताइए।" और उपनिषद के गुरुओं ने कहा 'तत्त्वमसि' अर्थात् यह आप ही हैं। अर्थात् बाह्य जगत में जो कुछ भी है वह अन्तर्जगत से भिन्न नहीं है। यह भी कहा गया कि चेतना और चेतना के बाह्य जगत में भेद एक छद्म भेद है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य और कुछ नहीं अपितु इस बात की समझ रखना है कि यह भेद मिथ्या है और सभी पदार्थों में एकत्त्व और एकता और सबका एकाकीपन ही सत्य है।

'कथोपनिषद' में बालक नचिकेता ने जब अपने पिता से यह सुना कि वे अपना सारा राज्य और अपनी सारी सम्पत्ति दान देने जा रहे हैं तब नचिकेता ने अपने पिता को चिढ़ाने के लिए कहा, "पिता जी आपने प्रत्येक वस्तु का परित्यागकर दिया, सबसे दूर चले गए। आप मुझे क्यों नहीं त्याग देते?" तब पिता क्रुद्ध हो गए और उन्होंने कहा, "ठीक है, मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूं।" पिताजी के आदेश का पालन करते हुए नचिकेता मृत्यु लोक पहुँच गए किन्तु उस समय यमराज वहाँ नहीं थे तथा वे तीन दिनों तक लौटे नहीं।

जब यम लौटे तो उन्होंने नचिकेता को देखा और कहा, "मुझे खेद है कि मैं बाहर था और तुम्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी। तुम्हारे धैर्य का पुरस्कार है कि मैं तुम्हारी तीन इच्छाओं की पूर्ति करूंगा, तुम अपनी इच्छाएं बताओ।"

"मुझे घर वापस जाने का मार्ग बताइए।"

''तथास्तु!''– यमराज ने कहा।

''मरणत्व की समाप्ति के लिए क्या आवश्यक है? क्या कर्मकाण्ड करना आवश्यक है?'' नचिकेता ने प्रश्न किया।

यम ने उसे कुछ कर्मकाण्ड करने के बारे में बताया जिससे कि जो व्यक्ति अमरत्व प्राप्त करे। नचिकेता ने इस कर्मकाण्ड को इतनी शुद्धता से किया कि यमराज ने प्रसन्न होकर इसका नाम ही 'नचिकेता यज्ञ' रख दिया।

यमराज ने पूछा, ''तुम्हारी तीसरी इच्छा क्या है?''

''मुझे बताइए कि सत्य क्या है?'' नचिकेता ने प्रश्न किया।

यहां नचिकेता जो कहना चाहते हैं वह यह कि सत्य जीवन और मृत्यु से परे है। वह कर्मकाण्ड तथा कर्म से परे है। वह 'यम और नियम' से परे है। और इसी कारण सत्य को जाना नहीं जा सकता। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे केवल रहस्यानुभूति से अन्तर्मन में अनुभव किया जा सकता है। उपनिषद में वर्णित सत्य का यह सार तत्त्व है।

किन्तु भारत में सत्य की अन्य व्याख्याएं भी हुई हैं। यहां बुद्ध का भी दर्शन है जिनका कहना है कि दुःख और पीड़ा भी सत्य है। और कोई भी दुग्राह्य तत्त्व नहीं होता और जो कुछ भी इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किया जाता है और प्रकट होता है वह सत्य है। यह स्वयं में ही अस्तित्ववान है और हमारे में ही जो रहता है वह सत्य है। उपनिषद का दर्शन बताता है कि जो जगत हम देखते हैं वह सत्य नहीं है, किन्तु हमें सत्य सूक्ष्मता में दिखाई देता है क्योंकि हमारे भीतर सत्य रहता है। यह शब्दों के परे है, अनुभूति के परे है। बुद्ध ने कहा कि सत्य जगत की अनुभूति है और यह मनुष्य की धारणा में निहित होता है। यह बाह्य अनुभव नहीं है। सत्य की यह अवधारणा भी कालान्तर में बदली। हमने भर्तृहरि जैसे वैयाकरणों की अवधारणाएं भी देखीं, जिन्होंने कहा कि सत्य के कई स्तर होते हैं। सत्य हो सकता है क्योंकि यह सत्य के रूप में व्याख्यायित होता है। वह सत्य है अपने ढंग का जो अन्य सत्यों से भिन्न हो सकता है, जिसकी अलग-अलग तरह से व्याख्या की जाती है।

जब हम इतिहास के अगले दौर में आते हैं तो हम पाते हैं कि मध्यकालीन सन्त कवियों ने अपनी रचनाओं में सत्य की अलग तरह से व्याख्या की। तुकाराम, कबीर जैसे कवियों ने कहा कि सत्य वहां वास करता है जहां प्रेम होता है। यह तादात्म्य की सम्भावना है। बुद्ध सम्बन्ध की बात नहीं करते थे, वे स्वयं अनुभव की बात करते थे। वैदिक दर्शन ने सत्य को सार्वभौमिक कहा किन्तु उसमें किसी सम्बन्ध की सम्भावना नहीं बताई क्योंकि सभी प्राणियों में कोई भेद नहीं बताया। किसी प्रकार के सम्बन्ध के लिए कम-से-कम एक प्रकार के दो प्राणियों का होना आवश्यक है। तभी उनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना हो सकती है। यह सम्भव नहीं कि किसी का सम्बन्ध स्वयं से बताने की आवधारणा व्यक्त की जाए। इसका अपवाद सिर्फ किसी अहंमन्य का आत्म विलयन ही हो सकता है। इसके लिए, यह आवश्यक है कि एक तरह का अजनबीपन और परिवर्तन हो जिससे कि सम्बन्धों के लिए कोई अवसर मिल सके। भक्त कवियों ने अन्यता की इस आवश्यकता का अनुभव किया। उन्होंने सत्य को सम्भव बनाने के लिए एक वैकल्पिकता की खोज की और उसका आभास कराया। यह द्वैत उनके स्वत्व के स्रोत से भिन्न दिखाई दिया।

लगभग सभी लोग इस बात से सहमत हैं कि 20वीं शताब्दी में सत्य को प्रतिमान के रूप में समझने के लिए हमें महात्मा गांधी की आत्मकथा को ध्यान में लेना होगा। अपने समय के अग्रणी स्वतन्त्रता सेनानी होने के नाते यों तो महात्मा गांधी की आत्मकथा का शीर्षक 'स्वतन्त्रता के मेरे प्रयोग' अथवा 'नैतिक सक्रियता के मेरे प्रयोग' होना

चाहिए था किन्तु उसका शीर्षक दिया गया 'सत्य के प्रयोग'। उनकी आत्मकथा एक सक्रिय कार्यकर्ता के विकास का इतिहास है; और यह न तो अपनी संरचना में न ही अपने अवधारणात्मक स्तर पर सत्य का दर्शन था। गांधी मानते हैं कि सत्य है। वह नैतिक निष्ठा जो व्यक्ति के विचारों को उनके कार्यों के अत्यंत निकट ले आती है, एक जीवनशैली जो सामाजिक उपबंध के रूप में एक महान आध्यात्मिक शक्ति का निर्माण करती है। अन्य शब्दों में, गांधी ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि व्यक्ति के विचार और कार्य एक जैसे होने चाहिए और आध्यात्मिक तथा राजनीतिक मत में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध असत्य का कारण बनेगा।

गांधी जी के बाद के कालखंड में भारत में सत्य की संकल्पना बड़ी तेजी से विशुद्ध कल्पनात्मक हो गयी है। ऐसा लगता है कि अब तो सत्य केवल दृश्य के माध्यम से ही अभिव्यक्त हो सकता है तथा अब वह मौन या भाषिक अभिव्यक्ति में नहीं मिलेगा। आज किसी चीज को भी सत्य सिद्ध होना है तो इसे पहले मीडिया के भ्रामक बिम्बों के माध्यम से प्रकट होना होगा। उसे सिनेमा में, टेलीविजन पर और व्यावहारिक जीवन से भिन्न प्रकट होना होगा। धारणाएं और घटनाएं तब ज्यादा वास्तविक लगने लगती हैं जब उन्हें मीडिया की काल्पनिक भाषा में दिखाया जाना है। यदि वे मीडिया के बिम्बों से नहीं दिखाई जातीं तो वे उतनी वास्तविक नहीं लगतीं जितनी वे वास्तव में हैं।

विश्व की अन्य सभ्यताओं ने 'सत्य' की संकल्पना को विभिन्न दृष्टिकोण से देखा है। दक्षिण अफ्रीका में जब एक सार्वजनिक अन्वेषण के लिए सत्य एवं समन्वय आयोग (Truth and Reconciliation Commission) का गठन किया गया। तब यह इस धारणा पर आधारित था कि किसी साक्ष्य का प्रदर्शित रूप उसके सत्य होने का प्रमाण है। चीन के कुछ क्लासिकल दार्शनिक सम्प्रदायों ने माना कि सत्य के सत्य होने का प्रमाण दृश्य होने में ही है जबकि इसके विपरीत भारतीय दार्शनिक समुदाय मानते रहे कि यदि सत्य दिखाई देने लगे या यह शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगे तो यह सत्य नहीं रह जाता। इसलिए यदि एक दार्शनिक सम्प्रदाय जिसे सत्य मानता है, दूसरा सम्प्रदाय उससे भिन्न सत्य की बात करता रहा है, यहां तक कि उसके विपरीत सत्य की संकल्पना ही सही हो। एक ही सभ्यता में सत्य की अवधारणा हर दौर में बदलती रहती है; और विभिन्न सभ्यताओं में सत्य की अवधारणा अलग-अलग तरह से सामने आती है। यदि प्राचीन भारत में दार्शनिकों ने एक बहुत बड़ी भाषिक शर्त लगाई कि विश्व कैसा है अर्थात 'यह' या 'तत' अर्थात विश्व का सार, तो एक प्राचीन पाश्चात्य विचारधारा ने माना कि किसी घटना की वैधता (जैसे कि त्रासदी का कथानात्मक) उसके आरम्भ, मध्य और अन्त की सम्भाव्यता को करने में है। यहां प्रश्न यह नहीं है कि सत्य का कौन सा सिद्धान्त ज्यादा सही है और कौन सा कम सही है- प्राचीन या आधुनिक, भारतीय या पाश्चात्य। सत्य की कोई भी अवधारणा पूरे विश्व में सर्वमान्य नहीं हो सकती। सत्य केवल तत्त्व मीमांसा के विमर्श और आकलन का विषय है। यह सिर्फ एक अवधारणा है उससे ज्यादा और कुछ नहीं।

सत्य की विभिन्न अवधारणाओं और स्थापनाओं के महान विचारों के बावजूद किसी भी अवधारणा का सम्बन्ध यथार्थ से बहुत कम है। यद्यपि, मनुष्य की इच्छा होती है कि वह सत्य की खोज करे जिससे कि वह यथार्थ को समझ सके। किन्तु सत्य और यथार्थ इन्द्रिय जन्य अनुभव, अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य और बौद्धिक समझ इन सभी स्तरों पर दो अलग एवं पूर्णतः भिन्न प्रकार के हैं। इन दोनों तरह के जगत में जो बात सामान्य है वह है, इनका होना; उस लोक का अवधारणात्मक अस्तित्व है जिसे मानव चेतना ने एक फैंटेसी के रूप में सृजित किया। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वर्तमान की वर्तमानता का प्रभावशाली ढंग से वर्णन करना है, जिसे मानव विवेक के सत्य के अनुरूप विचार तन्त्र को निर्मित करना अनिवार्य है। क्योंकि सत्य को अस्तित्व के होने की व्याख्या करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है इसलिए इस प्रकार के सिद्धान्त मुख्यतः वर्तमान काल में ही प्रस्तुत किए जाते हैं। और प्रायः इसका

वर्तमान उस वर्तमान से आश्चर्यजनक ढंग से ज्यादा व्यापक होता है जो किसी व्यक्ति के भूत, भविष्य और वर्तमान में दिखाई देता है। और जैसे ही हम उस कहानी के विस्तार में जाते हुए कहते हैं 'एक राजा था और एक रानी थी' तब हम जान जाते हैं कि यहां अन्तरण हो गया है। अब हम सत्य से कल्पना की ओर चले गए हैं।

सभी कहानियां, सभी उपन्यास मूलतः भूतकाल में व्यक्त किए जाते हैं। ऐसा दिखावा हो सकता है कि वे वर्तमान काल में हों जैसेकि किसी प्रतिरूप का प्रतिरूप। जब कोई किसी कहानी, नाटक या फिल्म का कथानक बनाता है तब वह इस वर्तमान से दूर चला जाता है। यह वर्तमान और भूतकाल के विचित्र समन्वय से हो सकता है। इस प्रकार का किस्सा भाषिक रूप से सम्भव है किन्तु इसमें जो वाक्य आते हैं वे सैद्धांतिक या दार्शनिक रूप से भूतकाल में होते हैं। आख्यान में यदि संरचनात्मक दृष्टि से वे जोड़ भी दिए जाएं तो उनका अर्थ वर्तमान काल में ही सही ढंग से लगाया जा सकता है। कथात्मक वर्णन, अपने सत्य की खोज विषय को अपने ढंग से आत्मसात करने की क्षमता और घटनाओं को वास्तविक और काल्पनिक अतीत में किस रूप में व्यक्त किया गया है– इस आधार पर करते हैं। यद्यपि, हम यह जानते हैं कि ये कहानियां हैं फिर भी हम यह भी भरोसा करते हैं कि उनमें कुछ ऐसी बातों की रिपोर्टिंग की गई है जो वास्तव में घटित भी हुई हैं। यद्यपि, कथा साहित्य की संरचना ऐसी की जाती है कि उससे हमें यह विश्वास हो जाए कि सत्य के काफी निकट है, घटनाओं का वर्णन इस रूप में किया गया है। किन्तु इसके साथ-साथ हम यह भी जानते हैं कि अस्तित्व के सिद्धान्तों से यह विवरण बिल्कुल स्वतन्त्र है। अस्तित्व के सिद्धान्तों को अपनाने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि हम इसका परीक्षण करें कि क्या वास्तव में कथा साहित्य सत्य नहीं है या यह 'झूठ' है। सत्य या सत्य का कोई भी रूप अस्तित्व से जुड़ा है अर्थात-मानव चेतना विश्व की अवधारणा और विश्व की घटनाओं के यथार्थ होने की बात करती है। सत्य उसकी बात करता है जो है। कथा साहित्य स्पष्ट रूप से विश्व की चर्चा नहीं करता, यद्यपि, विश्व कथात्मक सर्जना के प्रयोग की अन्तर्वस्तु बन जाता है। अथवा सम्भवतः ऐसा होता है कि कथा साहित्य अस्तित्ववान विश्व की चर्चा नहीं करता अपितु यह मुख्यतः अन्तर्जगत की बात करता है या फिर यह अस्तित्व का वह प्रवाह बताता है जिसका सृजन मानव कल्पना करती है।

सामान्यतः सत्य का एक नया निर्माण मानव इतिहास में लम्बे समय में देखा जाता है; और वह सांस्कृतिक अनुभवों की शृंखला के अन्त में इन अनुभवों के परिणामस्वरूप आता है। बार-बार के सम्वेदनात्मक अनुभवों के आधार पर कुछ सूत्र निकाले जाते हैं। वास्तव अमूर्त नहीं होता है और ये सारे अमूर्त न होने की व्यापक दृष्टि को आगे ले जाते हैं। इस प्रकार सत्य की स्थापना इन्द्रियजन अनुभवों की सामूहिक मानव स्मृतियों पर आधारित हैं। वह जो प्रकृति तथा पदार्थगत संरचना से जुड़ी है और जिसका अनुभव मानव शरीर को करना होता है। सम्वेदन, घ्राण, स्पर्श, ध्वनि, पीड़ा, प्रसन्नता, गति, तापमान, बोधात्मक ज्ञान तथा अनुभव के ऐसे अन्य दूसरे कारकों से वस्तु का निर्माण होता है जिससे सत्य के सिद्धान्त के सूत्र बनते हैं। प्रायः इसमें ऐसा वातावरण निर्मित होता है जो इन अनुभवों से अस्पृश्य रह जाते हैं और वे प्रायः कालातीत 'अस्ति' (है) की चर्चा करते हैं जो इसके बाहर होता है। किन्तु सत्य की ऐसी किसी स्थापना की सम्भावना नहीं रहती जिनमें स्मृतियों का उपयोग न हुआ हो। स्मृति सत्य की किसी अवधारणा की मुख्यधारा है और कल्पना कथा साहित्य के अस्तित्व का आधार है। कथा साहित्य कल्पना के उपयोग की मांग करता है। और यह भी मांग करता है कि उन बिम्बों की निर्मिति की जाए जो विश्व में विद्यमान हैं तथा जो अभी भी विश्व में अस्तित्ववान नहीं है। सत्य दावा करता है कि वह उस विश्व की बात कर रहा है जो है (अस्तित्ववान है) और कथा साहित्य विश्व के अस्तित्व के होने पर बार-बार बल देता है। ये दोनों अनुभव अलग-अलग इसलिए नहीं हैं कि वे अलग-अलग तरह के तत्त्वों की चर्चा करते हैं। अपितु अपनी भाषिक क्षमता के कारण भी वे एक-दूसरे के समान नहीं हैं। वे कालक्रम को भी भिन्न रूप से प्रस्तुत करते हैं। अन्य शब्दों में,

विश्व दृष्टि के रूप में सत्य का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह कथा सृजन के पहले आए क्योंकि वह विवरणात्मक तत्त्व के रूप में सामने आता है। सत्य कथन के लिए सिर्फ दार्शनिक एवं भाषा वैज्ञानिक क्षमता काफी होती है। कथन एक ऐसी कला है जिसके लिए समाज को धीरे-धीरे और काफी परिश्रम करके स्वाभाविकता से आगे जाकर सीखना पड़ता है।

जब प्लेटो ने अपने गणतन्त्र की कल्पना में कवियों को नैतिकता के आधार पर गणतन्त्र से बाहर रखा तो वे कल्पना की प्रकृति के प्रति अत्यधिक अविश्वासी थे। इसके विपरीत, सृजनात्मक कल्पना के समर्थक माने जाने वाले अरस्तु को कल्पना की शक्ति को समझना पड़ा और सम्भवतः प्लेटो को विश्वास दिलाने के लिए उन्हें नाटक को उसकी संरचनात्मक एकता में चमत्कारी प्रभाव डालने वाला बताना पड़ा। कथा साहित्य तत्काल कल्पना की बात करता है और वह एक ऐसे अतीत की बात करता है जो सत्य की स्थापना के लिए स्मृतियों पर निर्भर नहीं रहता अपितु वह आभासी अतीत होता है। कल्पना में भविष्य को ग्रहण किया जा सकता है किन्तु कथात्मक या साहित्यिक कल्पना तब तक उड़ान नहीं भर सकती जब तक कि इसमें समय का आभासी प्रवाह न दिखाई दे। इसलिए मनुष्य की भाषाओं में भूतकाल वाचिक क्षमता लम्बे समय तक नहीं आई जब तक कि कथाएं महत्त्वपूर्ण विधा या व्यवस्था के रूप में नहीं आईं।

कथा सृजन सिर्फ इसलिए किसी भाषा के लिए सम्भव नहीं होता कि विवरणात्मक घटनाएं किसी वाक् समुदाय में आख्यानात्मक हो रही हैं। और कथा साहित्य सिर्फ इसलिए नहीं सम्भव होता कि मनुष्य को कल्पना शक्ति का उपहार मिला है। अपितु इसकी सम्भावना तभी होती है जब भूतकाल के माध्यम से मानव चेतना आभासी अस्तित्व में प्रवेश करना सीख जाती है। जब हम मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों के द्वारा तैयार किए गए भाषिक कूट संकेत की तुलना करते हैं- जैसे मधुमक्खियों तथा मछलियों के संकेतों की - तब हम यह महसूस करते हैं कि मनुष्य की भाषाएँ श्रेष्ठतर हैं न सिर्फ इस कारण कि वे यथार्थ के जटिल बोध को अभिव्यक्त करती हैं, अपितु इसलिए कि मनुष्य की भाषाएँ, भूतकाल के द्वारा जैसा था या उससे भी ज्यादा की कुछ बातें जैसी हैं और वास्तव को आभासी बिम्ब के माध्यम से व्यक्त करती हैं। मनुष्य की भाषाएँ मुख्यतः उनमें विद्यमान भूतकाल के कारण विशिष्ट हैं तथा उनकी विशिष्ट क्षमता इस बात में है कि वे भूतकाल को आभासी जगत में ले जा सकती हैं। इस प्रकार, मानव चेतना की विकासात्मक प्रक्रिया में भाषा हमें सत्य से कल्पनात्मक साहित्य की ओर ले आती है, और कल्पना से वह साइबर जगत में ले आती है। साथ ही, यथार्थ से कल्पना लोक में ले आती है और आधुनिक से मुख्यतः आभासी दुनिया में ले जाती है।

अभी तक जो तर्क किए गए उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कथात्मक साहित्य का सृजन करना सत्य के सिद्धान्त निरूपण से उच्चतर सांस्कृतिक कोटि का है। सत्य का विमर्श अपेक्षाकृत आसान होता है क्योंकि किसी भी तरह से उसका परीक्षण नहीं किया जा सकता। किन्तु कथा साहित्य का निर्माण करना सांस्कृतिक रूप से ज्यादा जटिल है। उस काल और परिवेश में जब कहा जाता था, 'एक था राजा और एक थी रानी', तब न तो कोई राजा होता था और न कोई रानी होती थी किन्तु इस प्रकार की सत्येतर बातों को अवधारणात्मक रूप में प्रस्तुत करना सत्य की तुलना में व्यापक काल्पनिकता के लिए ज्यादा सहजता से संभव है। दार्शनिक भाषा में उस कथा साहित्य का सृजन करने की क्षमता नहीं होती जो अपने लाक्षणिक प्रभाव से सत्य के सन्दर्भगत परिप्रेक्ष्य का अतिक्रमण कर जाए। वही सौन्दर्यात्मक क्षमता है।

पिछले दो सदियों में सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र की एक शाखा माना गया है। पहले दर्शन का विकास होता है, उसके काफी बाद में सौन्दर्यशास्त्र विकसित होता है। क्योंकि सौन्दर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र की उन्नत शाखा है क्योंकि

सौन्दर्यशास्त्र का कार्य हमें इस बात से सहमत करना है कि 'झूठ' कल्पनात्मक सत्य से ज्यादा अर्थवान होते हैं। इस बात को सही साबित करने के अनेक प्रयास हुए हैं कि कथा साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग हुआ उससे कैसे अर्थ की अनेक छवियां सामने आई हैं। यह सम्भव हो पाता है विमर्श की संरचना, प्रतीकों का सामंजस्य, संप्रेषण का तरीका, अभिव्यक्ति की शैली जो अन्तर्वस्तु से तादात्म्य बैठाती है, आदि बातों से। इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि कथा साहित्य मानव कल्पना का वह मार्ग प्रशस्त करता है जो मानव चेतना के साइबर स्पेस (आभासी दुनिया) को समझने के लिए और उसका अनुभव करने के लिए आवश्यक है।

मनुष्य की भाषाओं ने उन संरचनाओं को निर्मित करने के लिए काफी संघर्ष किया जो वर्तमान और अतीत में सहसा व्यक्त हो जाती हैं तथा तत्काल वे स्मृति और कल्पना को, सत्य और कल्पना को, जोड़ने में साथ हो जाती हैं। दृश्य दुनिया वास्तव में 'है' या फिर वह केवल मनुष्य चेतना की 'समझ' है? मानव चेतना स्वयं ही ऐसी है। इसलिए अस्तित्व के- फिर वह 'है' या 'नहीं' है- पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए, वर्तमान और अतीत के संयोजन का पर्याप्त वर्णन करने के लिए, साइबर स्पेस की सम्भावना की तलाश आवश्यक है। स्मृति और कल्पना में भेद करने वाले सैमुअल टेलर कोलरिज (Samuel Taylor Coleridge) ने सम्भवतः साइबर स्पेस की महान क्षमता को समझ लिया था। अपनी उन्मत करने वाली कविताओं में नहीं अपितु अपने बाल्यकाल की स्मृतियों को पुनः याद करते हुए ऐसा किया था। अपनी रचना *बायोग्राफीया लिट्रेरिया* में उन्होंने लिखा है कि उनके पिता के घर की दीवार पर एक पेंटिंग लगी थी जिसमें एक जहाज का चित्रण हुआ था जो तूफानी समुद्र में घिरा हुआ था। निश्चय ही, इसने उन्हें 'दी एन्शिएण्ट मेरिनर' की प्रसिद्ध पंक्तियां लिखने के लिए प्रेरित किया होगा जो 'ए पेंटेड शिप अपॉन ए पेंटेड सी' के बारे लिखी गई है।

एक प्राचीन यूनानी व्यक्तित्त्व है कुबरनीट्स (Kubernetes)। जिसके बारे में कहा जाता है कि वह समुद्र के बीच में तूफानों और लहरों से संघर्ष करता हुआ अपना जहाज स्थिर रख सकता था। कोलरिज ने अपने बचपन की पेंटिंग में जिस दृश्य की बात की है तथा कुबरनीट्स ने जिस जल प्रलय की चुनौती स्वीकार की, तकनीकी रूप से उसे साइबर स्पेस ही कहा जा सकता है। यह वास्तव में भाषा का विकास है जिसने वास्तव को व्यक्त करनेवाली भाषा से आगे बढ़कर उसमें काल्पनिकता का वर्णन करना सीखा। यह उसी की तार्किक परिणति है। इस स्थान पर मानव चेतना यथार्थ का अभिग्रहण ज्यादा सार्थक ढंग से कर सकेंगी; जितनी स्मृति और कल्पना दोनों को एक साथ मिलाकर अभी तक न कर सकती थी। हमारे समय में ज्ञान के सभी क्षेत्रों में ज्ञान मीमांसक आदान-प्रदान तेजी से हो रहा है। यदि मौजूदा अस्तित्ववान भाषाओं की संरचना सरकारी नीति के हस्तक्षेपों से अक्षम बनाई जाती है तो वे साइबर स्पेस की सम्भावनाओं के द्वार में प्रवेश नहीं कर पाएंगी। अपितु वह स्मृतियों के भण्डार में ही वापस लौट जाएंगी और लोक स्मृति के रूप में ही जानी जाएंगी जो सर्वथा अन्यायपूर्ण होगा।

भारतीय हाशिए की समुदायों की भाषाएँ तथा मुख्य भाषाएँ दोनों ऐसे दौर में हैं जिसमें स्मृति से साइबर स्पेस में उनका अन्तरण बहुत चुनौतीपूर्ण हो गया है। आरोपित वाचाघात हाशिए और केन्द्रीय दोनों स्तर की भाषाओं तक बढ़ता जा रहा है।

ज्ञान और स्वतन्त्रता

मानव अनुभव में सम्वेदना मिल जाती है और मानव स्मृति में एक स्थान बना लेती है तथा वह रूप धारण कर लेती है जिसे ज्ञान कहते हैं (रोसी (Rossi), 2000)। कभी-कभी स्मृति बुद्धि को जागृत करती है, उत्तेजित करती है, इसके साथ जुड़ जाती है तथा ज्ञान बन जाती है। ज्ञान के किसी भी प्रकार के सृजन में सदैव सम्वेदना, स्मृतियां

और विवेक ही मिलकर एक साथ आते हैं तभी ज्ञान का कोई उत्पाद सामने आता है। ज्ञान मुख्यत: दो रूपों में व्यक्त होता है- दो प्रकार का होता है बल्कि यह कहें तो दो स्वतन्त्र कक्षा का होता है। एक है मानव मस्तिष्क के भीतर ज्ञान और दूसरा है एक व्यवस्था के रूप में ज्ञान। ज्ञान व्यवस्था की कुछ निश्चित अनिवार्य शर्त होती है और वह अनिवार्य शर्त है लिपि। एक पीढ़ी के निर्मित ज्ञान को दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने के लिए मनुष्य ने लिपियों में संयोजित कर उसका दस्तावेजीकरण किया है। लिपियों के माध्यम से ही मानव अनुभव का सामूहिक संयोजन अग्रसारित होता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी ज्ञान व्यवस्था के स्तर को अर्जित करती है। क्योंकि व्यवस्था के लिए सम्वाहकों की जरूरत होती है- ज्ञान का उपयोग करने वाले और उसके प्रदाताओं दोनों की, इसलिए प्रत्येक ज्ञान व्यवस्था समाज नियंत्रण का उपकरण बन जाती है।

जो लोग किसी ज्ञान क्षेत्र में कार्य करते हैं वे उस समाज में एक विशेष तरह का अधिकार पाना चाहते हैं। वास्तव में ज्ञान जानकारी का एक माध्यम होना चाहिए, वह सामाजिक नियंत्रण का साधन बन जाता है। जब हम यह विश्वास करना चाहते हैं कि ज्ञान प्रबोधन है, तब ज्ञान एक व्यवस्था के रूप में ऐसा साधन बन जाता है जिसका स्वामित्त्व किया जा सकता है, जिस पर आधिपत्य रखा जा सकता है, जिसे नियंत्रित किया जा सकता है; यहां तक कि उसे अपने ढंग से हथिया लिया जा सकता है। इस ज्ञान व्यवस्था की छल योजना सम्भवत: मानव आविष्कारों का सर्वाधिक विकृत पक्ष है। किसी भी समाज में जो लोग सत्ता में हैं या प्रभुत्वशाली हैं, वे चाहते हैं कि ज्ञान वही है जो वे जानते हैं। इससे जो लोग सत्ता या वर्चस्व में नहीं हैं वे लोग जो जानते हैं वह ज्ञान नहीं बन सकता। फिर जैसा माना जाता है कि 'असभ्य' लोगों के पास ज्ञान नहीं होता जबकि 'रोम' के लोग ज्ञानी हैं। जो लोग 'संस्कृत' पढ़ते हैं या बोलते हैं वे 'ज्ञानी' हैं और जो प्राकृत बोलते हैं वे ज्ञानी नहीं हैं। जो लोग अंग्रेजी बोलते हैं उनके पास ज्ञान है, जो अंग्रेजी नहीं बोलते उनके पास ज्ञान नहीं हैं। हर ज्ञान व्यवहार का यही राजनीतिक सन्दर्भ होता है। ज्ञान वर्चस्व की इसी वर्ग व्यवस्था इतिहास को लेकर यह शोषण का एक साधन बन जाता है। वास्तव में, ज्ञान एक अपरिहार्य और अनिवार्य मानव अवस्था है- मानव विवेक को हर नई अवधारणा तक पहुंचने से रोका नहीं जा सकता इसलिए उसे ज्ञान प्राप्त करने से भी नहीं रोका जा सकता। इसके विपरीत, जब मनुष्य सामाजिक संरचना के भीतर स्वयं को पाते हैं या समुदाय के भीतर स्वयं को पाते हैं तब वे ज्ञान का उपयोग शोषण के उद्देश्य से करते हैं।

विरोधाभास का स्रोत मनुष्य की जैविक विशेषताओं में निहित है। मनुष्य को मेरुदण्डी बनाया गया है जिससे वह उर्धवत होता है। तना हुआ खड़ा रहता है इसलिए वह पूर्णत: मनुष्य होने का रूपक बन जाता है और लचीला होना उसके लिए कलंक बन जाता है। विश्व की सभी भाषाओं में अनेक अपशब्द मनुष्य के लचीले होने से जुड़े हैं। तन कर खड़ा होना गर्व की बात मानी जाती है। क्योंकि मानव जाति झुकने से पूर्णत: परहेज करती है इसलिए उसने श्रम करने का अदभुत तरीका खोज निकाला जो अन्य प्राणियों में नहीं है। अन्य प्राणी वे सारे कार्य करते हैं जो वे कर सकते हैं और जो उनके अस्तित्व और विकास के लिए आवश्यक हैं। केवल मनुष्य ही उन गतिविधियों से विमुख रहता है जो इसके लिए आवश्यक हैं।

ज्ञान का प्रयोग श्रम से बचाव के साधन के रूप में किया जाता है। ब्राहमण वर्ग का उदय इस बात का उदाहरण है कि कैसे ज्ञान का प्रयोग श्रम से बचाव के लिए किया जाता था। शुरू में तो श्रम की असमानता और बाद में एक जाति के रूप में ब्राह्मण का आधिपत्य हुआ। पाश्चात्य जगत में मध्य वर्ग का उदय, दूसरा ऐसा उदाहरण है जिसमें माना गया कि पाश्चात्य ज्ञान स्वतन्त्रता और प्रबोधन का ऐसा मार्ग होना चाहिए और एक व्यवस्था के सर्भिज्ञान गुलामी खोज और उसके विस्तार का मार्ग करने का साधन बन गया।

मैं यह तर्क नहीं करना चाहता कि सारी खोजों का प्रयोग दास प्रथा के विस्तार के लिए किया गया तथा सभी प्रौद्योगिकियों का निर्माण वर्ग-भेद तथा वर्ग-विभाजन के लिए किया गया। सम्भवत: मनुष्य की आग की खोज ऐसी

खोज है जिसने मानव समाज का विभाजन नहीं किया। समाज का विभाजन न होने के बावजूद स्त्रियों को चूल्हे के साथ जोड़कर बड़ा लैंगिक भेदभाव किया गया। सम्भवतः पेंसीलीन जैसी दवा की खोज मानव जाति के लिए उपयोगी थी। किन्तु हम चाहें या न चाहें एक खोज भले ही वह मानव जाति के लिए कल्याणकारी हो वह लाभ के उत्पादन का साधन बन जाती है, और कुछ लोगों को धनार्जन करने की छूट देती है, और वहीं दूसरे लोगों को मानव प्रगति के लाभ का आनन्द समान रूप से उठाने से वंचित कर देती है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि एक व्यवस्था के रूप में ज्ञान एक वर्ग का एकाधिकार बन जाता है– शोषण का एक उपकरण बन जाता है तब व्यक्ति निश्चय ही यह चाहेगा कि वह ज्ञानजनित भेदभाव से मुक्त रहे। ज्ञान केवल वही होता है जिसे उन चिंतकों ने हमारे लिए खोजा, जो कल्पनाशील हैं और जिन्होंने ऐसे विचारों का विकास किया जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए स्वतन्त्रता के विस्तार में योगदान कर सकें।

इसलिए यद्यपि, ज्ञान स्वयं में कोई अवांछनीय तत्त्व नहीं है किन्तु हम उस प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे जिसमें ज्ञान को शोषण के साधन के रूप में प्रयोग करने की छूट दी जाती है। यदि इस प्रकार, ज्ञान का सामान्य वर्गीकरण 'व्यक्ति की चेतना में रहनेवाला' और समुदाय में संस्था के रूप में रहनेवाला है तो कहना बहुत तर्कपूर्ण होगा कि हम ज्ञान के उस रूप तक पहुंचने के लिए उत्सुक रहें जो एक व्यवस्था के रूप में हमारे सामने नहीं आता बल्कि वह व्यक्ति की चेतना में अवस्थित है, या फिर यह एक छोटे, हाशिए के समुदाय में है। अच्छा है कि यह ज्ञान की मुख्यधारा में नहीं है और उसमें एकाधिकार का कोई तत्त्व नहीं है। जब ज्ञान एक व्यवस्था बन जाता है तब यह अपने औचित्य के लिए कुछ तर्क देने लगता है। और यह समुदायों को हाशिए पर धकेलने का एक स्रोत है। हाशिए के समुदाय केवल आर्थिक भेदभाव के कारण अशक्त नहीं हैं, बल्कि शायद वे उतने ही अशक्त उस विचित्र परिभाषा के कारण भी हैं जिसे हमने ज्ञान की एक व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर लिया है। आप चिकित्सा के बारे में सोचिए। यदि हम ज्ञान की प्रदत्त चिकित्सा व्यवस्था को स्वीकार करें तो दूसरी चिकित्सा व्यवस्था अज्ञान–व्यवस्था बन जाती है। यद्यपि, यह उतनी ही प्रभावी चिकित्सा व्यवस्था हो सकती है। क्योंकि एक चिकित्सा व्यवस्था केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लेती है तो वे सभी समुदाय जो दूसरी चिकित्सा व्यवस्था अपनाते हैं वे स्वतः ही हाशिए पर चले जाते हैं। यही बात प्रौद्योगिकी के बारे में भी कही जा सकती है।

यदि मनुष्य की यही स्थिति है और यदि हम इतिहास में आगे बढ़ना चाहते हैं, न कि उससे चिपके रहना चाहते हैं, तो हमें अवश्य यह सोचना होगा कि ज्ञान को कैसे एक वर्ग के एकाधिकार से स्वतन्त्र कराया जाए, उसे एक व्यवस्था की सीमा से स्वतन्त्र कराया जाए, और कैसे शेष ज्ञान की व्यवस्था की तार्किक सुसंगति के क्रियान्वयन से स्वतन्त्र हो तथा वह कैसे एक बार फिर उस ज्ञान से जुड़ जाए जो व्यक्तियों के मस्तिष्क में है।

मनुष्य मानता है कि वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठतर है क्योंकि वह मानता है कि उसके पास श्रेष्ठतर ज्ञान है। जबकि वास्तव में श्रेष्ठता इस बात में नहीं है कि मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठतर ज्ञान रखता है बल्कि उसकी यह अनैसर्गिक श्रेष्ठता लिपियों में है। लिपियों की रचना में ही हम यह सोच सके कि हम अन्य प्राणियों से श्रेष्ठतर हैं। यदि हम वास्तव में अन्य प्राणियों से श्रेष्ठतर हैं तो हमें यह सोचना ही होगा कि हम ऐसा ज्ञान प्राप्त करें और उसका सरंक्षण करें जिसमें सामाजिक भेदभाव न रहे।

सामान्यतः यह माना जाता है कि ज्ञान हर व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा; किन्तु ज्ञान की इस अवधारणा में ही एक अन्तर्विरोध निहित है कि सार्वभौमिक सत्य के रूप में जो ज्ञान व्यवस्थाएं हैं उसके साथ अनुप्रायोगिक ज्ञान का सम्बन्ध बहुत कम होता है। लेकिन इसके विपरीत स्वतन्त्रता की अवधारणा है। स्वतन्त्रता मस्तिष्क में ही है बाहर नहीं होती। यह अपेक्षाकृत ज्यादा महत्त्वपूर्ण अवधारणा है और यही इसकी शक्ति है। वस्तुनिष्ठ और निर्वैयक्तिक ज्ञान अर्थात तथाकथित काल निरपेक्ष ज्ञान ही मानव जाति के विकास में अत्यधिक प्रभावी रहा है। इसके विपरीत,

स्वतन्त्रता को प्रायः तुलनात्मक रूप में आदर्श माना जाता है और कभी-कभी ज्ञान के अत्यधिक निकट माना जाता है जैसा कि कहा गया है 'सा-विद्या या विमुक्तये'। इस स्वतन्त्रता को उस तरह से संस्थागत नहीं किया गया है। यह अभी भी संस्कृति की अपेक्षा प्रकृति के निकट है।

ज्ञान को मानव प्रगति के रूप में माना जाता है। जबकि स्वतन्त्रता अभी भी ज्यादा स्वाभाविक मानी जाती है। इसलिए उसे सभी प्राणियों के साथ जोड़ा जाता है। उदाहरण के लिए, लोकतन्त्र स्वतन्त्रता की हमारी सामूहिक इच्छा का प्रतिरूप है, किन्तु लोकतन्त्र राष्ट्र की भावना और भौगोलिक सीमाओं से बंधी है इसलिए लोकतन्त्र की कोई सार्वभौमिक अवधारणा नहीं है।

हम कह सकते हैं कि ज्ञान के पथ पर अग्रसर होने की अपेक्षा स्वतन्त्रता के पथ पर प्रशस्त होना बेहतर है। जिससे व्यक्ति मानव समाज के भीतर सृजनात्मक चिन्तक और सृजन कर्मी के रूप में अपनी खास जगह बना सके। मानव चिन्तन की पहुंच से काफी आगे है, यथार्थ। मानव मस्तिष्क अभी तक उन सब बातों को आत्मसात करने में सक्षम नहीं हुआ जो यथार्थ के रूप में यहां हैं। हमने यह सोच लिया है कि ज्ञान हमें स्वतन्त्रता दे देता है और यदि हम साक्षरता बढ़ा लें तो समाज में शोषण बन्द हो जाएगा। हम एक पल के लिए भी नहीं सोचते कि यह अवधारणा सवालों के घेरे में है- संदेहास्पद है। बल्कि हमें इस बात पर बल देना चाहिए कि स्वतन्त्रता ही व्यक्ति को ज्ञान प्रदान करती है न कि इसके विपरीत ज्ञान व्यक्ति को स्वतन्त्रता देता है। यह तत्त्वमीमांसक स्वतन्त्रता 'मोक्ष' या वैज्ञानिक प्रगति की स्वतन्त्रता अथवा स्वतन्त्रता की अवधारणा शरीर को पीड़ा रहित नहीं बनाएगी। अपितु यथार्थ की अनुभूति की स्वतन्त्रता ही ऐसा कर सकेगी। यथार्थ से हमारा अभिप्राय सिर्फ इतना है कि यह हमारे चारों ओर मौजूद तत्त्वों का एकीकृत रूप है जो पूर्णतः तटस्थ भाव से रहता है। यहां 'यथार्थ' शब्द के प्रयोग का आशय सत्य या असत्य से बिल्कुल जुड़ा नहीं है। व्यक्ति के आसपास जो 'यथार्थ' रहता है वह ज्ञान के सृजन की पहली सम्भावना निर्मित करता है। इसके अनुसार, इस प्रकार का अनुप्रायोगिक ज्ञान भी ज्ञान बन जाता है। दो व्यक्तियों को भी यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उनमें सम्भावना होनी चाहिए कि वे कह सकें, 'यह नीला है' तथा 'यह हरा है' -इनमें से कोई इस बात को सिद्ध करने के बिना कि उनमें से दूसरा अनुभव गलत है- वे केवल इस आधार पर कह सकें कि नीले रंग की अवधारणा और हरे रंग की अवधारणा वस्तुनिष्ठ और विशिष्ट है तथा दोनों का सहअस्तित्व असम्भव नहीं। इसमें से ज्ञान निर्मित होगा, और इस प्रकार के अन्तरवैयक्तिक संप्रेषण से ही ज्ञान रहेगा, क्षणिक रूप से रहेगा, दो व्यक्तियों के बीच रहेगा, एक छोटे समुदाय के भीतर रहेगा- यदि उनसे बाहर न रह सके तो। विकासात्मक तर्क में हम मानते हैं कि साक्षर होना चाहिए जिससे कि व्यक्ति स्वतन्त्र हो जाएगा और खुशियां उसके पास आएंगी। हम विश्वास करते हैं कि विचार को आगे बढ़ने दो जिससे कि हम और ज्यादा जान सकें तथा हम विचार के द्वारा जिसे निर्मित करते हैं उसे अन्य को बताया जाना चाहिए जिससे कि वे भी स्वतन्त्र हो जाएं। ऐसा नहीं होगा। यह किसी भी तरह से तर्कसंगत नहीं है।

होना यह चाहिए कि लोग निश्चय ही अपनी ज्ञान परंपराओं में विश्वास करें और अपनी स्थितियों के अनुरूप कार्य करें। जो संस्थाएं ज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्य का निर्माण कर रही हैं उन्हें सुधारा जाए या झकझोरा जाए और हमें एक ही ज्ञान के बजाय कई प्रकार के ज्ञान को स्वीकार करना होगा। ज्ञान सम्भव हो पाता है क्योंकि इसकी विविधता को स्वीकार किया जाता है। और तब मानव जाति जीवन का संकेन्द्रित और एकीकृत अनुभव प्राप्त करेगी जो कि अभी तक अन्य प्राणियों को मिलता रहा है। तब मनुष्य कम-से-कम अन्य प्राणियों के समान हो जाएगा, और जानेगा कि स्वतन्त्रता क्या है? तभी संकटग्रस्त भाषाओं में सम्पुंजित ज्ञान उन सृजनात्मक विचारों के संग्रह में योगदान देगा जिस ज्ञान की सम्भावना तलाशने की आवश्यकता है।

संदर्भ

Asp, Elissa D. and Jessica De Villiers. 2010. *When language breaks down*. New York: Cambridge University Press.

Austin, Granville. 2009. Language and the constitution: The half-hearted compromise. In *Language and Politics in India*, ed. Asha Sarangi, 41-92. New Delhi: Oxford University Press.

Austin, Peter. 2008. *One thousand languages: Living, endangered and lost*. Berkley: University of California Press. 1

Barber, Charles, Joan C. Beal and. Philip Shaw. 1993. *The English language: A historical introduction*. Cambridge:.Cambridge University Press.

Bianco, Joseph Lo. 2012.'National language revival movements: Reflections from India, Israel, Indonesia and Ireland: In *The Cambridge Handbook of Language Policy*, ed. BemarosQpolsky, 501-522. Cambridge: Cambridge University Press.

Blench, Roger and Mathew Spriggs, eds. 1999-2012. Archaeology and language; '*Theoretical and methodological orientations*. 4 vols. Abingdon and New York: Routledge.

Bradley, David and Maya Bradley, eds. 2002. *Language endangerment and language maintenance*, by David Bradley. London: Routledge-Curzon.

Bragg, Melvyn. 2003. *The adventure of English: The biography of a language*. London: Hodder and Stoughton.

Braggs, I. and H. I. Freedman. 1993 (September). Can the speakers of a dominated language survive as unilinguals? A mathematical model of bilingualism, 9-18. *Mathematical and Computer Modelling*, vol. 18, no. 6. Oxford: Pergamon Press.

Chappell, Tim, ed. 1996. *The Plato reader*. Edinburgh: Edinburgh University Press.

Chitre, Dilip, trans. and ed. 1991. *Says Tuka: Selected poems of Tukaram*. Pune: Sontheimer Cultural association.

Corballis, Michael. 201 l. *The recursive mind*: *The origins of human language, thought and civilization*. Princeton, NJ: Princeton University Press.

Cru, Josep, ed. 2010. *The management of linguistic diversity and peace processes*. Barcelona: UNESCOCAT.

Crystal, David. 2000. *Language death*. Cambridge: Cambridge University Press.

Dalby, Andrew. 2003. *Language in danger*. New York: Columbia University Press.

DeGreff, Michel, ed. 1999. *Language creation and language change: Creolization, dichrony, and development*. Cambridge, Massachsetts: The MIT Press.

Deshpande, C. R. 1978. *Transmission in the Mahabharata tradition: Vyasa and VyasiosQ*. Simla: *Indian Institute of Advanced Studies*.

Devy, G. N. 1998. 'Of many heroes An' Indian essay in literary historiography. Hyderabad: Orient Longman.

Devy, G. N., ed. 2003. *Painted worosQ*: An anthology of tribal literature. New Delhi: Penguin.

____. 2006. Development. In *A nomad called thief*, 123-142. New Delhi: Orient Blackswan.

____. Kikiyario: Adivasi voice and violence. In *A nomad called thief*, 39-69. New Delhi: Orient Blackswan.

_____2009a. India: Layered Inequalities. In *Origins, journeys and returns: Social justice in international higher education*, ed.Volkman, Toby Alicer New York: Social science. Research Council.

2009b. T he. G. N. Devy reader: After amnesia, Of many heroes, *The being of bhasha*, Countering violence. New Delhi: Orient Blackswan.

Dharampal. 2000. The beautiful tree: Indigenous education in the eighteenth century, *collected writings*, vol. III. Mapusa: Other Indian Press.

Fishman, Joshua A., ed. 2001. *Can threatened languages be saved*? Clivedon and Sydney: Multilingual Matters.

Florey, Margaret, ed. 2010. *Endangered languages of A ustronesia*. New York: Oxford University Press. Eisenstadt, S. N., R. Kahane and D. Shulam, eds. 1984. *Orthodoxy, heterodoxy'and'dissent'in India*.

Berlin and New York: Mouton.

Gillespie, Tarleton. 2007. *Wired shut: Copyright and the shape of digital culture*. Cambridge, Massachsetts: The MIT Press.

Ginsberg, Victor and Shlomo Weber. 2011. How many languages do we need? *The economics of linguistic diversity*. Princeton, NJ: Princeton University Press.

Gippert, J ost, Nocolas P. Himmelmann and Nikolaus, Mosal, Ulrike, eds. 2006. *Essentials of language documentation*, by Berlin and New York: Mouton de Gruyter.

Grenebole, Lenore A. and Lindsay J. Whaley. 2006. *Saving languages*. Cambridge: Cambridge University Press.

Grierson, George Abraham. 1903-1928. reprinted 2004. *Linguistic survey of India*, 11 vols, 19 parts. New Delhi: Mittal/ Low Price Publication.

Grin, Francois and Francois Villancourt. 1999. *The cost-efectiveness evaluation of minority language policies* : Case studies on Wales, Ireland and the Basque Country. Flensburg: European Commission for Minority Issues.

Harrison, K. David. 2007. *When languages die*. New York: Oxford University Press.

Heller-Roazen, Daniel. 2008. Little Stars. *In Echolalias: On the forgetting of languages*, 99-112.

Janse, Mark and Sijmen Tol, eds. 2003. Language death and language maintenance: *Theoretical practice and descriptive approaches*. Amsterdam/Philadelphia: John Berij amin Publishing, Company.

Jiarazbhoy, N. A. 1975. Music. In *A cultural history of India*, ed. A. L. Basham. Oxford: Oxford University Press.

Kaviraj, Sudipto. 2009. Writing, speaking and being: Language and the historical formation. In *Language and politics in* India, ed. Asha Sarangi, 312-350. New Delhi: Oxford University Press.

Lacan, 1977 *Ecrits: a selection*. Trans. Alan Sheridan. New York: W. W. Norton.

Lukanovic, Sonja Noval, ed. 2010. A shared vision: international dialogue-*A global paradigm to promote linguistic and cultural diversity*. Ljubljana: Institute for Ethnic Studies.

Mafii, Luisa, ed. 2001. *On biocultural diversity*. Washington: Smithsonian Institution Scholarly Press.

Masson, J. L., and M. V. Patwardhan. 1969. *Santarasa and Abhinava is philosophy of Aesthetics*. Pune: The Bhandarkar Oriental Institute.

Mayhew, Arthur. 1926. The education of India: A survey of British education policy in India, 1835-1920, and its bearing onnational life and problems in *India today*. London: Faber and Gwyer.

McMahon, April and 1 Robert lMcMflahon. 2013. *Evolutionary linguistics*. 'Cambridge: Cambridge University Press.

Meierkord, Christiane. 2012. Interactions across Englishes: *Linguistic choices in local and international contact situations*. New York: Cambridge University Press.

Merleau-Ponty, Maurice. 2012. *Phenomenology of perception*. Trans. Donald A. Landes. New York: Routledge.

__1963. *The structure of behaviour*. Trans. Alden Fisher. Boston: Beacon Press.

Mosley, Christopher. 2010. The atlas of the world languages in danger. UNESCO.

Naik, J. P and Syed Nurullah. 1951. *A history of British education in India during the British period*. Bombay: Popular.

Nandy, Ashis. 1987. Traditions, tyranny and utopias: Essays in *the politics of awareness*. New Delhi: Oxford University Press.

Nettle, Daniel, and Suzanne Romaine. 2000. *Vanishing voices*. Oxford: Oxford University Press.

Nigam, R. C. 1972. *Language handbook on mother tongues in census, census of India 1971*, no. 10. New Delhi: Census Centenary Monographs.

Rossi, Paolo. 2000. Transl. Stephen Clucas. *Logic and the art of memory*: The quest for a universal language. London: Athlone Press. p

Isarangi, Asha, ed. 2009. *Language and politics in India*. New Delhi: Oxford University Press.

Jeffrey P. Williams, ed. 2010. *The lesser known varieties of English*, by Daniel Schreier, Peter Trudgill and Edgar W. Schneider. New York: Cambridge University Press.

Schwartzberg, Joseph E. 2009. Factors in the linguistic reorganisation of Indian states. In *Language and politics in India*, ed. Asha Sarangi. New Delhi: Oxford University Press.

Sharma, Rekha and E. Annamalai, eds. 2003. In search of identity. Mysore: Centrallnstitute of Indian Languages.

Sengupta, Kamalini, ed. 2010. *Endangered languages in India*.New Delhi: INTACH.

Spolsky, Bernard, ed. 2012. *The Cambridge handbook of language policy*. Cambridge: Cambridge University Press.

Sweetser, Eve, Dnacygier, Barbara, eds. 2012. *VieWpoint in language: A multimodal perspective*. Cambridge: Cambridge University Press.

Trautmann, Thomas R. 2006. Languages and nations: *The Dravidian proof in colonial Madras*. Berkley: University of California Press.

Wurm, Stephen. 2005. *Atlas of the world's languages danger*. UNESCO.

[illegible] 2000. [illegible] language [illegible] Oxford University Press.

[illegible] Grimes, Barbara [illegible] 1999 [illegible] Dallas [illegible] Summer [illegible]

[illegible] Crystal, David [illegible] [illegible] London [illegible]

[illegible] 2000. Language and politics [illegible]

[illegible] eds. 2010. The [illegible] Cambridge University Press.

[illegible] 2003. [illegible] of Indian [illegible] New Delhi: Oxford University Press.

[illegible] 2001 [illegible] Indian Languages [illegible]

[illegible]

[illegible] 2002. The Cambridge [illegible] Cambridge University Press.

[illegible] Barbara, eds. 2012 [illegible] Languages [illegible]

[illegible] Press.

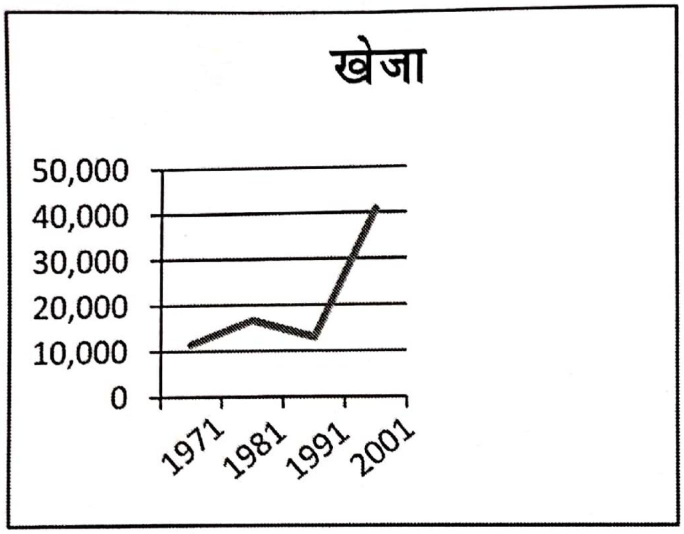
[illegible] Thomas R. 2000. Languages and nations [illegible]

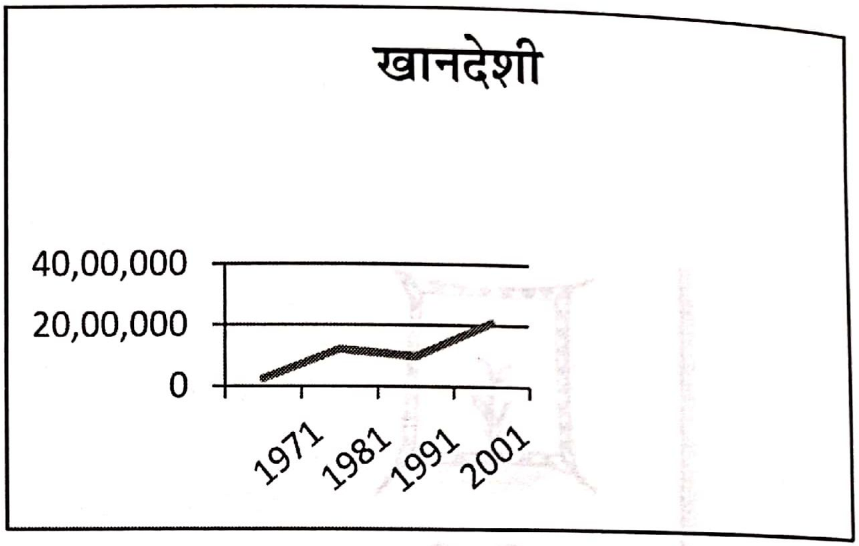
[illegible] 2009. Atlas of the world's languages in danger. UNESCO.

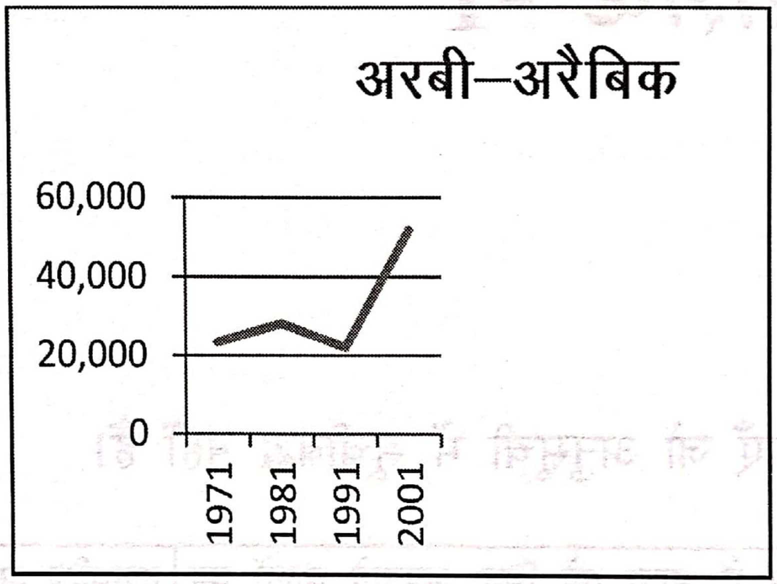
परिशिष्ट -1

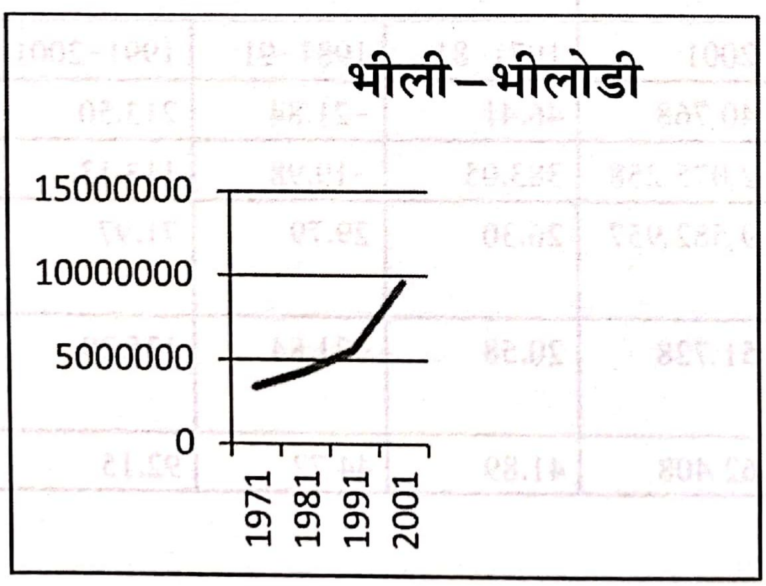
कुछ उदीयमान भाषाएँ जो अनुसूची में सूचीबद्ध नहीं हैं।

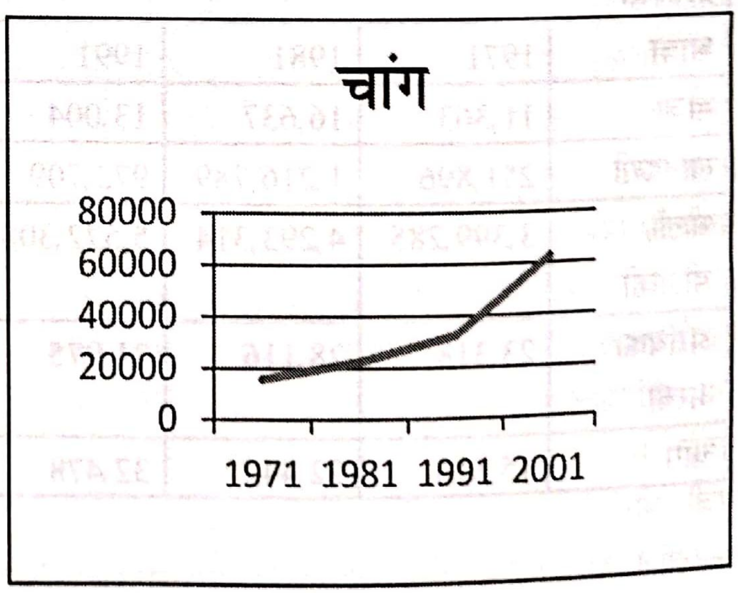
अपनी मातृभाषा के रूप में भाषा को फिर अपनाने वालों का प्रतिशत					दशकीय आधार पर प्रतिशत में बढ़त		
भाषा	1971	1981	1991	2001	1971-81	1981-91	1991-2001
खेजा	11,363	16,637	13,004	40,768	46.41	-21.84	213.50
खानदेशी	251,896	1,216,789	973,709	2,075,258	383.05	-19.98	113.13
भीली/ भीलोडी	3,399,285	4,293,314	5,572,308	9,582,957	26.30	29.79	71.97
अरैबिक/ अरबी	23,318	28,116	21,975	51,728	20.58	-21.84	135.39
चांग	15,816	22,442	32,478	62,408	41.89	44.72	92.15


खेजा
50,000
40,000
30,000
20,000
10,000
0
1971
1981
1991
2001


खानदेशी
40,00,000
20,00,000
0
1971
1981
1991
2001


अरबी–अरैबिक
60,000
40,000
20,000
0
1971
1981
1991
2001


भीली–भीलोडी
15000000
10000000
5000000
0
1971
1981
1991
2001


चांग
80000
60000
40000
20000
0
1971
1981
1991
2001

परिशिष्ट -2

यूनेस्को की सूची में शामिल भारतीय संकटग्रस्त भाषाएँ

अतोङ्ग, आदि, अहोम, एमोल, आयतों, आका, अनाल, अन्द्रो, अंगामि, अंगिका, आओ, अप्तानि, असुर, बङ्गा, बघाटी, बाल्टी, बंगानी, बॉम, बेल्लारी, भद्रवाही, भालेसी, भरमौरी, भूमिज, बैटे, बिरहोर, बिष्णुप्रिया, बोडो, बोकार, बोरी, ब्रोक्षत, बुनान, बयांगसी, चंबियाली, चंग, चोक्र, चुराही, कुऑना, मेंबा, डुक्पा, दारमा, देवरी, दिमासा, गदबा, गालो, गंग्ते, गढ़वाली, गेटा, गोंडी, गोरुम, ग्रेट अंडमानीज, गुतोब, हंदुरी, हिल मिरी, म्हार, हो, रहङ्गकोल, इदु, इरुला, जड़, जंगशुंग, जारवा, जौनसारी, जुआंग, काबूई, कचरी, कनाशी, कांगड़ी, करबी, खम्बा, खाम्पटी, खड़िया, खसाली, खेजा, खियमङ्गंन, खोइरो, खोवा, किन्नौरी, कोच, कोड़ा, कोडागु, कोइरेंग, कोकबोरोक, कोलामी, कॉम, कोंडा, कोन्याक, कोरंगा, कोरकू, कोरो, कोरवा, कोटा, कुई, कुलुई, कुमौनी, कुंडल, शाही, कुरूर, कुरुबा, क्रुक्स, कुवि, लदाखी, लंगनग, लामोंग्ज़े, अंगरोंग, लेपचा, लोहटा, लियांगमई, लिम्बु, लिशपा, लुरो, महासूई, मालटो, मंचद, मंडा, मांदियाली, माओ, मरा, मराम, मरिंग, मेच, मैथेई, मीजि, मिजु, मिलांग, मिन्योंग, मिसिंग, मिज़ो, मोटूओ, मेंबा, मोयोंन, म्रा, मुंडारी, मुओत, जिमि, ना, नाइकी, निहाली, नोक्ते, रङ्गमहेई, निशि, ओंगे, पदम्, पादरी, पाईते, पंगवाली, परजी, पासी, पैंगों, फोम, पोचुरी, पु, पूरीक, पुरम, राभा, रंगकस, रेमो, रेंगमा, रोंगपो, रुगा, सानेनयो, संगतम, सेंगमई, सेनटेलीज़, शेरदुकपेन, शेरपा, शोम्पेन, सिमी, सिंगफो, सिरमौरी, साओरा, स्पिति, सुलुंग, तगीन, तै-नोर, तैफाके, तैरौंग, तकहाँईलांग, तमांग, तंगम, तांगखुल, तांगसा, तराओ, तरूआंग, ठाडो, तीनानं, तीवा, तोडा, तोल्छा, टोटो, शांगला, तुलु, तुरी, वांचो, यिम्चुंगरु, जाईवा, जंस्कारी, झेमे।

परिशिष्ट -3

1961 की जनगणना के अनुसार असूचीबद्ध 'मातृभाषाएं'

आभाहातिक, अधुनि, आदिभाषा, आदिवासी, आदिम, अडनिस, अदनिस, अग्सुला, अहेनई, अईआ अलम, अलानिक, अलकारी, अंडमानी, अंधि, अनहेरिक, अर्जी, अश्निनि, अशिया, औरखाटी, बधरी, बहा, बहाति, बैसिया, बकतान, बकेरवाली, बलौरी, बल्हापुरी, बलियानी, बलवान, बनरी, बंदुबाल, बनगारगी, बनगारनी, बंगरो, बनोर, बंसपुरी, बंथली, बरई, बारे, बारजयेन, बरोची, बसली, बसौली, बास्क, बस्ती, बावरी, बेल्दरी, बेंगनी, बेंजुआ, बेरिया, भद्री, भद्रुवली, भगत, भगनदी, भगनरी, भगवती, भली, भामरी, भंगरा, भिगोली, भीम, भिवाडी, भौगटा, भौहोए, भुटनग्री, बिडीकोरस, बिलनी, बिथालेनियन, बियोगी, बोजवारी, बोल्टी जबन, बोम्बा, बोंडाला, ब्रेन, बुचर, बनहर, केन्टर, कैन्थर्स, चबेली, चाची, चामैया, चैपरर, छठगिर, चौबर, छाऊ भाषा, चेतोरी, च्चारी, छऊशमेनी, छिंद, छोटानागपुरी, चोवोएल, चोव, क्रिश्चियन, सिओल, कोमांगा, कुर्ग, कुशी, चुच, डैल्यू, डेमेल, डैंगछागा, दारचिनी, दारवी, दाती, दय्याला भाषा, देहाती, देके, देरास्मति, देस्बडी, देशी, देस्वई, धाल्लु, दिची, दिव्हे, दोम्बारी, दुलाई, दुनावी पहाड़ी, द्वेद बोली, ईस्ट इंडियन, इलौंग्युरिया, इति, फतमा, फरनादा, फ्यूजियन, फुलमलि, फुलनगरी, गबेरो, गदल, गद्य भाषा, गगर, गंगा, गंगसी, गंजु, गरपगरी, गरुड़ी, गयुंती, गवरी, गेनेंग, घमोली, घंझड़ी, घासी, घटवाल, घिरचरग, गोदगली, गोधामी, गोधरी, गोपाल, गोरह, गोरहाथी, गोरिला, गोसाई, गौवाला, गुलगुलिया, गुर, गुर्जरा, गुसरा, गुठरा, हक्कीपिक्की, हाली, हैलवेडो, हमर, हैनेमदी, हेरा, हरदेसी, हसंग, हेरलेसे, हेल्गो, हेंगना, हिजोमदेल, हुदिया, हुन्यो, इनकारी, जबखरी, जमथली, जर्सी, जतापु, जावाली पहाड़ी, झालो मालो, झारा, झोरा, जोगसनी, जोखरी, जॉर्ड, जुंकुकु, कड़ी, केसिद, कालाहारी, कालाजन, काल्वी, कामादुन, कमात, कांडी, कंद्री, कंगिलु, कंजारी, कंकी, कंसले, कंतरी, कपटी, करई, करंडगाम, करंगम, कारधनी, करकरमुंडी, करुमखतन, करवली, कश्ज, कस्तूरी भाषा, कटगी, कटिगा, कटवी, कौरी, कवरा,

काव, कावमी, खंपा, खनली, खासी, खरखादी, खसल, खासबोडी, खाति, खत्ताई, खोरपई, खुकु, किगोई, किकिया, कमेर, कोकग, कॉल्डी, कोल्हाटी, कोलकुमार, कोनगर, कोनई, कोंकणी, कोंवर, कोसन, कोटरन, कृष्टी, कसरवार, कुछबंधि, कुडु, कुली, कुमद्री, कुनाली, कुंचेरुकला, कुंध, कुनिजा, कुंसर, कुरवंजि, कुरुवुक्करन, कुटल, लैबनिक, लाडर, लाधरी, लादी, लैगोडु, लाल्गी, लामजलि, लैंगु, लैजोड़ी, लिबो, लाओसी, लैओसिया, लोगलि, लोहारी, लोहर, लुंखुल, मदन, माद्री, माद्री-नति, माद्गी, माद्वलि, महाजनि, महाकुरी, महास्वालि, महतो, मई, मखिया, मलांथा, मलरी, मलगिरी, मल्मजा, मल्नुति, मालो, माल्सन पहाड़ी, माल्टिस, मानकी, मंदाकिनी, मंडुला, मंदुरी पहाड़ी, मणि, मरही, माराजी, मरल, मशन, मस्ती, मस्तिन, मतेली, मतराई, मेघवलि, मेहरी, मेलशि, मेतली, मिजी, मिकुम, मिओली, मिता, मोलु, मोमिदामि, मोंपा, मोर्पा, मोंग, मुचि, मुल्लु, मुम्हारा, मुंदाला, मुंगी, मुस्लिम पहाड़ी, मुत्तरी, मिलॉर, नागर, नागबंशी, नागी, नैकपोड़ी, नाइया, नक्काला, नंदीवाली, नरमदिया, नारनॉली, नसंग की बोली, नसुका, नाति, नयाकुला, नाजु, नेग्लु, नेहारा, नेऑफ, नगेते, निंग, निशांग, नुदिया, नुनिया, ओडकी, ओंग, ओरडियल, पधाखि, पजलवानि, पहाड़ी कीरू, पहाड़ी टिक्करी, पाइक, पलंदी, पालिया, पमुला भाषा, पंच, पंचरंगी, परछिनरी, परगर, पैरिय, पर्की, परुई, पासी, पस्मा, पसोबा, पठारी, पथीसडी, पथलु, पट्सनि पहाड़ी, पत्तम भाषा, पाविते, पमेको, पेंधारि, फक्तुन, पिल्गर, पोबा, पोहानी, पोकरिने, पोमो, पोंदरा, पूस्ला, प्रोजा, पुंजवालि, पूर्णिया, पुस्सि, कुश्ताश, राज, राजबहार, राजघर, राख, राखे, रक्क्षई, रामदासी, रानत, रांची, रंगरेजी, रंथिया, रास्मिआति, राठिया, रातिया, राजलि, रेबुछेबा, रेड्डी भाषा, रिबा, रिन्युनि, रिशी, रोहे, रोमन, रोज, रोवबी, रॉधरी, रुमई, साधारण, सैब्या, सैरि, समिश्रा, सेनेप, संकरा, संकु, सपेरी, सप्रु, सरैया, सरदारी, सरनार्थी सरोदी, सरसर, ससि, सस्ना, सस्वारि, सथारि, सतरालि, सवाजी, सयेंग, सीमा, सेल्लम, सेंगोउ, सेर्वरी, सेर्वी, सेफो, शजा, शिकारी, शोम्पेन, शुषा, सिगित्विया, सिकलगड़ी, सिक्करि, सिल्पी, सिम्नी, सिनोस, सोहली, सोमसहग, सोनझड़ी, सोन्नी, सुब्बा, सुदिया, सुजाथिगर, सुलुंग, सुन्गी, सुनकरद, सुरली, स्वानि, तबन, तहैराइन, तलमी, तंदारा, तंदिल, तनजरवालंदगो, टंकेरा, तांटि, तराने, तरोआ, तरोनी, ताश्वर, तस्ति, तयेंग, तेबग, तेलि, टेमल्लि, तेपली, तेवारी, ठकई, थारी, थाट्मा, थाटवारी, तिलालि, तिरगुलि, तोल्चां, तोलर, तोपी, टोटजा, ट्रिमाली, त्रिवेदी, थंबेकरू, तुंगो, उचाई, उहांदो, उहोर्ड, उज्रा, उमरपाला, उमथी, उपभाषा, उरनी, उर्वन, उर्मशा, उस्थु, उत्तरी पहाड़ी, वदक्कली, वैपकि, वैवल, वरांछिति, वतु, वेड्डी, वोंडाला, वोट्गा, वकराली, वाल्ली, वाल्मिकी, वंदगिरी, वतनकरी, यहूदी, यशखिला, येरो, जिंधारी और जुंवार।

परिशिष्ट - 4

भारत की ज्ञात भाषाएँ

Presented below is an alphabetical abstract of languages and the mother tongues with speakers' strength of 10,000 and above at the all India level, grouped under each language. There are a total of 122 languages and 234 mother tongues. The 22 languages

Name of language and mother tongue(s) grouped under each language>	Number of persons who returned the language (and the mother tongues grouped under each) as their mother tongue	Name of language and mother tongue(s) grouped under each language	Number of persons who returned the language (and the mother tongues grouped under each) as their mother tongue
1	2	1	2
1 ASSAMESE	13,168,484	13 Dhundhari	1,871,130
1 Assamese	12,778,735	14 Garhwali	2,267,314
Others	389,749	15 Gojri	762,332
		16 Harauti	2,462,867
2 BENGALI	83,369,769	17 Haryanvi	7,997,192
1 Bengali	82,462,437	18 Hindi	257,919,635
2 Chakma	176,458	19 Jaunsari	114,733

3 Haijong/Hajong	63,188	20 Kangri	1,122,843
4 Rajbangsi	82,570	21 Khairari	11,937
Others	585,116	22 Khari Boli	47,730
		23 Khortha/ Khotta	4,725,927
3 BODO	1,350,478	24 Kulvi	170,770
1 Bodo/Boro	1,330,775	25 Kumauni	2,003,783
Others	19,703	26 Kurmali Thar	425,920
		27 Labani	22,162
4 DOGRI	2,282,589	28 Lamani/ Lambadi	2,707,562
1 Dogri	2,282,547	29 Laria	67,697
Others	42	30 Lodhi	139,321
		31 Magadhi/ Magahi	13,978,565
5 GUJARATI	46,091,617	32 Malvi	5,565,167
1 Gujarati	45,715,654	33 Mandeali	611,930
2 Gujrao/Gujrau	43,414	34 Marwari	7,936,183
3 Saurashtra/Saurash	185,420	35 Mewari	5,091,697
4 Others	147,129	36 Mewati	645,291
		37 Nagpuria	1,242,586
6 HINDI	422,048,642	38 Nimadi	2,148,146
1 Awadhi	2,529,308	39 Pahari	2,832,825
2 Bagheli/Baghel Khan	2,865,011	40 Panch Pargania	193,769
3 Bagri Rajasthani	1,434,123	41 Pangwali	16,285
4 Banjari	1,259,821	42 Pawari/ Powari	425,745
5 Bhadrawahi	66,918	43 Rajasthani	18,355,613
6 Bharmauri/ Gaddi	66,246	44 Sadan/ Sadri	2,044,776
7 Bhojpuri	33,099,497	45 Sirmauri	31,144
8 Brajbhasha	574,245	46 Sondwari	59,221
9 Bundeli/ Bundelkhan	3,072,147	47 Sugali	160,736
10 Chambeali	126,589	48 Surgujia	1,458,533
11 Chhattisgarhi	13,260,186	49 Surjapuri	1,217,019
12 Churahi	61,199	Others	14,777,266
7 KANNADA	37,924,011	2 Oriya	32,110,482
1 Badaga	134,514	3 Proja	92,774

2 Kannada	37,742,232	4 Relli	21,965
3 Kuruba/ Kurumba	14,613	5 Sambalpuri	518,803
Others	32,652	Others	56,482
8 KASHMIRI	5,527,698	**16 PUNJABI**	29,102,477
1 Kashmiri	5,362,349	1 Bagri	646,921
2 Kishtwari	33,429	2 Bilaspuri/ Kahluri	179,511
3 Siraji	87,179	3 Punjabi	28,152,794
Others	44,741	Others	123,251
9 KONKANI	2,489,015	**17 SANSKRIT**	14,135
1 Konkani	2,420,140	1 Sanskrit	14,099
2 Kudubi/ Kudumbi	10,192	Others	36
3 Malwani	46,851		
Others	11,832	**18 SANTALI**	6,469,600
		1 Karmali	368,853
10 MAITHILI	12,179,122	2 Santali	5,943,679
1 Maithili	12,178,673	Others	157,068
Others	449		
		19 SINDHI	2,535,485
11 MALAYALAM	33,066,392	1 Kachchhi	823,058
1 Malayalam	33,015,420	2 Sindhi	1,694,061
2 Yerava	19,643	Others	18,366
Others	31,329		
		20 TAMIL	60,793,814
12 MANIPURI1	1,466,705	1 Kaikadi	23,694
1 Manipuri	1,466,497	2 Tamil	60,655,813
Others	208	3 Yerukala/ Yerukula	69,533
		Others	44,774
13 MARATHI	71,936,894		
1 Marathi	71,701,478	**21 TELUGU**	74,002,856
Others	235,416	1 Telugu	73,817,148
		2 Vadari	171,725
14 NEPALI2	2,871,749	Others	13,983
1 Nepali	2,867,922		

Others	3,827	**22 URDU**	51,536,111
		1 Urdu	51,533,954
15 ORIYA	33,017,446	Others	2,157
1 Bhatri	216,940		

1. Excludes figures of Paomata, Mao-Maram and Purul sub divisions of Senapati district of Manipur For 2001 Census Manipuri includes Meithei.
2. Nepali includes Gorkhali.

PART B - Languages not specified in the Eighth Schedule (Non-Scheduled Languages)

Name of language and mother tongue(s) grouped under each language>	**Number of persons who returned the language (and the mother tongues grouped under each) as their mother tongue**	**Name of language and mother tongue(s) grouped under each language**	**Number of persons who returned the language (and the mother tongues grouped under each) as their mother tongue**
1	2	1	2
1 ADI	198,462	13 Rathi	101,458
1 Adi	97,012	14 Tadavi	99,348
2 Adi Gallong/ Gallong	61,887	15 Varli	475,433
3 Adi Miniyong/ Miniyong	17,274	16 Vasava	417,665
Others	22,289	17 Wagdi	2,510,811
		Others	191,262
2 AFGHANI/KABU-LI/PASHTO	11,086		
1 Afghani/Kabuli/ Pashto	11,086	**9 BHOTIA**	81,012
		1 Bhotia	68,800
3 ANAL	23,191	2 Zanskari	11,443
1 Anal	21,420	Others	769
Others	1,771		
		10 BHUMIJ	47,443
4 ANGAMI	132,225	1 Bhumij	30,719
1 Angami	49,685	Others	16,724
Others	82,540		
		11 BISHNUPURIYA	77,545

5 AO	261,387	1 Bishnupriya Manipuri/Manipuri Bishnupriya	72,899
1 Ao	257,404	Others	4,646
Others	3,983		
		12 CHAKHESANG	11,415
6 ARABIC/ ARBI	51,728	1 Chakhesang	11,415
1 Arabic/Arbi	51,715		
Others	13	13 CHAKRU/CHOKRI	83,560
		1 Chakru/Chokri	83,560
7 BALTI	20,053		
1 Balti	20,051	**14 CHANG**	62,408
Others	2	1 Chang	62,408
8 BHILI/BHILODI	9,582,957	**15 COORGI/ KODAGU**	166,187
1 Baori	27,242	1 Coorgi/Kodagu	166,187
2 Barel	637,751		
3 Bhilali	680,689	**16 DEORI**	27,960
4 Bhili/Bhilodi	3,313,481	1 Deori	27,960
5 Chodhari	209,363		
6 Dhodia	169,290	**17 DIMASA**	111,961
7 Gamti/ Gavit	283,697	1 Dimasa	110,671
8 Garasia	51,183	Others	1,290
9 Kokna/Kokni/Kukn	110,602		
10 Mawchi	99,474	**18 ENGLISH**	226,449
11 Paradhi	49,290	1 English	226,449
12 Pawri	154,918		
19 GADABA	26,262	**30 KARBI/MIKIR**	419,534
1 Gadaba	26,082	1 Karbi/Mikir	419,512
Others	180	Others	22
20 GANGTE	14,500	**31 KHANDESHI**	2,075,258
1 Gangte	14,394	1 Ahirani	1,865,813
Others	106	2 Dangi	138,756
		3 Gujari	48,747

21 GARO	889,479	4 Khandeshi	17,413
1 Garo	885,522	Others	4,529
Others	3,957		
		32 KHARIA	239,608
22 GONDI	2,713,790	1 Kharia	237,479
1 Dorli	37,731	Others	2,129
2 Gondi	2,505,247		
3 Kalari	26,797	**33 KHASI**	1,128,575
4 Maria	88,984	1 Bhoi Khasi	14,882
5 Muria	16,620	2 Khasi	828,545
Others	38,411	3 Pnar/Synteng	243,441
		4 War	25,886
23 HALABI	593,443	Others	15,821
1 Halabi	592,501		
Others	942	**34 KHEZHA**	40,768
		1 Khezha	39,436
24 HALAM	38,275	Others	1,332
1 Halam	14,316		
Others	23,959	**35 KHIEMNUNGAN**	37,755
		1 Khiemnungan	37,755
25 HMAR	83,404		
1 Hmar	83,404	**36 KHOND/KONDH**	118,597
		1 Khond/Kondh	115,330
26 HO	1,042,724	Others	3,267
1 Ho	1,037,987		
Others	4,737	**37 KINNAURI**	65,097
		1 Kinnauri	64,817
27 JATAPU	39,331	Others	280
1 Jatapu	39,319	**38 KISAN**	141,088
Others	12	1 Kisan	141,088
28 JUANG	23,708	39 KOCH	31,119
1 Juang	23,708	1 Koch	28,578
		Others	2,541
29 KABUI	94,758		
1 Kabui	29,175	**40 KODA/KORA**	43,030

2 Rongmei	61,197	1 Koda/Kora	36,528
Others	4,386	Others	6,502
41 KOLAMI	121,855	**53 LAHNDA3**	92,234
1 Kolami	121,855	1 Multani	11,873
		2 Bahawalpuri	56,096
42 KOM	14,673	3 Punchhi	19,871
1 Kom	14,673	Others	4,394
43 KONDA1	56,262	**54 LAKHER**	34,751
1 Kodu	45,428	1 Lakher	34,751
Others	10,834		
		55 LALUNG	27,072
44 KONYAK	248,109	1 Lalung	27,072
1 Konyak	248,109		
		56 LEPCHA	50,629
45 KORKU	574,481	1 Lepcha	50,629
1 Korku	541,880		
2 Muwasi	29,288	**57 LIANGMEI**	34,232
Others	3,313	1 Liangmei	34,077
		Others	155
46 KORWA2	34,586		
1 Koraku	27,942	**58 LIMBU**	37,265
Others	6,644	1 Limbu	28,127
		Others	9,138
47 KOYA	362,070		
1 Koya	362,070	**59 LOTHA**	170,001
		1 Lotha	170,001
48 KUI	916,222		
1 Kui	915,392	**6O LUSHAI/MIZO**	674,756
Others	830	1 Lushai/Mizo	671,911
49 KUKI	52,873	Others	2,845
1 Kuki	47,856		
Others	5,017	**61 MALTO4**	224,926
		1 Pahariya	83,050
50 KURUKH/ORAON	1,751,489	Others	141,876
1 Kurukh/Oraon	1,737,044		

Others	14,445	**62 MARAM**	37,340
		1 Maram	37,340
51 LADAKHI	104,618		
1 Ladakhi	104,502	**63 MARING**	22,326
Others	116	1 Maring	22,326
52 LAHAULI	22,646	**64 MIRI/MISHING**	551,224
1 Lahauli	20,138	1 Miri/Mishing	551,182
Others	2,508	Others	42
65 MISHMI	33,955	**75 PAWIV**	24,965
1 Mishmi	17,283	1 Pawi	24,965
Others	16,672		
		76 PERSIAN	11,688
66 MOGH	30,639	1 Persian	11,688
1 Mogh	30,559		
Others	80	**77 PHOM**	122,508
		1 Phom	122,508
67 MONPA	55,876		
1 Monpa	51,035	**78 POCHURY**	16,744
Others	4,841	1 Pochury	16,728
		Others	16
68 MUNDA	469,357		
1 Kol	12,720	**79 RABHA**	164,770
2 Munda	426,820	1 Rabha	164,266
Others	29,817	Others	504
69 MUNDARI	1,061,352	**80 RAI**	14,378
1 Mundari	1,046,951	1 Rai	10,446
2 Mura	14,204	Others	3,932
Others	197		
		81 RENGMA	61,345
70 NICOBARESE	28,784	1 Rengma	61,345
1 Nicobarese	28,784		
		82 SANGTAM	84,273
71 NISSI/DAFLA	211,485	1 Sangtam	84,171
1 Apatani	28,422	Others	102

2 Bangni	18,842		
3 Nissi	118,111	**83 SAVARA**	252,519
4 Tagin	38,244	1,Savara	252,487
Others	7,866	Others	32
72 NOCTE	32,957	**84 SEMA**	103,529
1 Nocte	27,749	1 Sema	103,529
Others	5,208		
		85 SHERPA	18,342
73 PAITE	64,100	1 Sherpa	18,342
1 Paite	64,065		
Others	35	**86 SHINA**	34,390
		1 Shina	34,251
74 PARJI5	51,216	Others	139
1 Dhurwa	45,310		
Others	5,906	**87 SIMTE**	10,225
		1 Simte	10,225
88 TAMANG	17,494	**94 TULU**	1,722,768
1 Tamang	17,494	1 Tulu	1,720,422
		Others	2,346
89 TANGKHUL	142,035		
1 Tangkhul	142,023	**95 VAIPHEI**	39,673
Others	12	1 Vaiphei	39,673
90 TANGSA	40,086	**96 WANCHO**	49,072
1 Tangsa	12,604	1 Wancho	49,072
Others	27,482		
		97 YIMCHUNGRE	92,144
91 THADO	190,595	1 Tikhir	16,828
1 Thado	186,471	2 Yimchungre	72,030
Others	4,124	Others	3,286
92 TIBETAN	85,278	**98 ZELIANG**	61,547
1 Tibetan	77,305	1 Zeliang	61,547
Others	7,973		
		99 ZEMI	34,110

93 TRIPURI	854,023	1 Zemi	34,102
1 Kokbarak	761,964	Others	8
2 Reang	76,450		
3 Tripuri	15,002	**100 ZOU**	20,857
Others	607	1 Zou	20,857

* Excludes figures of Paomata, Mao-Maram and Purul sub-divisions of Senapati district of Manipur for 2001.

** The percentage of speakers of each language for 2001 has been worked out on the total population of India excluding the population of Mao-Maram, Paomata and Purul subdivisions of Senapati district of Manipur due to cancellation of census results. N - Stands for negligible.

शब्द-अनुक्रमणिका

गणेश देवी ने बड़ौदा में *भाषा रिसर्च सेंटर* व तेजगढ़ में *आदिवासी अकादमी* का गठन करने से पूर्व 1996 तक महाराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा में अध्यापन कार्य किया। आपने इन संस्थानों के माध्यम से आदिवासी एवं यायावर समूहों की संस्कृति, कला व भाषा के संरक्षण व विकास पर कार्य किया। आपको साहित्य, आदिवासी शिल्प एवं भाषा संरक्षण के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हेतु पद्मश्री सहित विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। आप भारतीय भाषा लोक सर्वेक्षण (People's Linguistic Survey of India (PLSI) ग्रंथमाला के मुख्य संपादक हैं।

गुलाम मोहम्मद शेख एक कलाकार, लेखक और शिक्षाविद् हैं। आपका अंतर्सांस्कृतिक विषयों को भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में कलात्मक दृष्टिकोण से देखने और उनको नए तरीके से समझने की दिशा में उल्लेखनीय योगदान रहा है। इसके लिए आपको 2014 में पद्म भूषण सहित कई सम्मान प्राप्त हो चुके हैं।

आवरण चित्र : "स्पीकिंग ट्री" द्वारा,
गुलाम मोहम्मद शेख
('कावड़ : घर' से) डिजिटल कोलाज, 2008
आवरण सज्जा : बारान इजलाल

PLSI
1
Part 1



www.orientblackswan.com

ISBN 978 93 86689 09 2

ओरियंट ब्लैकस्वॉन

bhasha

Devy: Prastavna: Bhashaka Svatva, PLSI: Volume 1, Part 1 (HINDI)